

बालक को निःशुल्क शिक्षा का अधिकार

डॉ. सुरजीत सिंह भदौरिया*

“विश्व में सर्वाधिक निरक्षर भारत में रहते हैं” जैसे अभिशाप से देश का मुक्ति दिलाने के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम के रूप में साकार हुआ। इस अधिनियम को 1 अप्रैल 2010 से लागू होने के पश्चात् 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को अपने निकट के विद्यालय में निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पाने का कानूनी अधिकार मिल गया है। संविधान निर्माता शिक्षा के अधिकार को मूल संविधान में मूल अधिकार के रूप में शामिल करना चाहते थे परन्तु भारत की तत्कालीन परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं थी अतः उन्होंने इसे राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया जो कि न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं थे, संसद ने इस अधिकार की आवश्यकता का समझते हुए संविधान के 86वें संविधान संशोधन अधिनियम 2002 द्वारा नया अनुच्छेद 21-को जोड़कर इसे मूल अधिकार के रूप में अध्याय-3 में संविधान में समाविष्ट करने के कारण अनुच्छेद-45 को भी संशोधित कर इस प्रकार किया गया— “राज्य 6 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक सभी बालकों के बाल्यकाल की देखभाल और शिक्षा के लिए अवसर प्रदान करने के लिए अवसर उपलब्ध कराएगा।” इस प्रकार इस अनुच्छेद-45 में संशोधन द्वारा निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करवाना राज्य का दायित्व तय किया गया। इन दोनों संशोधनों के साथ ही भाग-4 जोड़ा गया, जिसके अनुसार 6 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के बालकों के माता-पिता और प्रतिपाल्य के संरक्षकों का यह कर्तव्य होगा कि उन्हें शिक्षा का अवसर प्रदान करें। शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार का दर्जा देने के साथ ही इसे नीति-निर्देशिक तत्वों तथा मूल कर्तव्यों में शामिल कर राज्यों, बच्चों के माता-पिता या संरक्षक सभी का दायित्व तय किया गया है तथा उल्लंघन करने पर अर्थदण्ड का भी प्रावधान किया गया है।

बालक को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम के मुख्य प्रावधान— सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत देश के विभिन्न भागों में प्राथमिक शिक्षा में सुधार हेतु किए गए तमाम प्रयासों के बावजूद समाज के कमजोर वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, मलिन बस्तियों, घुमन्तू जातियों आदि के लाखों बच्चे स्तरीय प्राथमिक शिक्षा पाने से कोसों दूर हैं। विहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, राजस्थान जैसे राज्यों में लाखों विद्यालयों में प्रवेश लेना और शिक्षा प्राप्त करना आज भी एक दिवास्वप्न है। इसी स्वप्न को साकार करने की दशा में ‘निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा’ पाने का अधिकार अधिनियम मील के एक पत्थर के समान है। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं— बच्चों को अपने निकटस्थ विद्यालय में प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण कर लेने तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पाने का अधिकार। प्रवेश से वंचित प्रत्येक बच्चे को उसकी आयु के अनुरूप कक्षा में प्रवेश मिलेगा। राज्य सरकारों,

*सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान) शास0 महाविद्यालय, बालाजी, मिहोना (भिण्ड)

स्थानीय प्राधिकारियों तथा अभिभावकों द्वारा निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के मामले में प्रत्येक कर्तव्यों एवं दायित्वों का सुस्पष्ट निर्धारण कर दिया गया है। निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था पर आने वाले कुल व्यय का 60 प्रतिशत भाग केन्द्र सरकार द्वारा तथा 40 प्रतिशत भाग सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा वहन किया जाएगा। विद्यालयों में शिक्षक क कार्यदिवसों, शिक्षकों के कार्य, घण्टो आदि से सम्बन्धित मानकों का निर्धारण कर दिया गया है। विद्यालयों में बच्चों का शारीरिक दण्ड देने, प्रवेश प्रक्रिया में बच्चों का परीक्षण करने, प्रवेश हेतु मोटी रकम वसूलने, अध्यापकों द्वारा ट्यूशन पढ़ाने, बिना मान्यता के विद्यालय चलाने पर पूर्ण प्रबन्ध। सिखाने की बाल मित्रवत् एवं बाल केन्द्रित प्रणाली विकसित करके बच्चों में बिना किसी भय एवं आशंका के ज्ञान, सम्भाव्यता तथा उनके बौद्धिक स्तर के विकास हेतु संविधान में निहित मूल्यों के अनुरूप पाठ्यक्रम तैयार करना। बच्चों के निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पाने के अधिकार के अनुश्रवण एवं संरक्षण तथा शिकायतों की सुनवाई बाल अधिकारों के संरक्षण हेतु गठित राष्ट्रीय तथा राज्य आयोगों द्वारा की जाएगी जिन्हें नागरिक न्यायालयों के अधिकार प्राप्त होंगे।

सरकार द्वारा सहायता प्राप्त निजी विद्यालयों को प्रत्येक कक्षा के एक चौथाई स्थान समाज के कमजोर एवं वंचित वर्गों के बच्चों के लिए आरक्षित रखने होंगे। निजी असहायता प्राप्त विद्यालयों को छोड़कर अन्य सभी विद्यालय 'विद्यालय प्रबन्ध समिति' द्वारा प्रबन्धित होंगे इस समिति के 75 प्रतिशत सदस्य शिक्षार्थ विद्यार्थियों के अभिभावक और संरक्षक होंगे। शासकीय विद्यालयों को छोड़कर अन्य सभी विद्यालयों को तीन वर्ष के भीतर निर्धारित मानकों एवं प्रावधानों को पूरा करते हुए सरकार से मान्यता प्राप्त करनी होगी अन्यथा वे बन्द कर दिए जायेंगे।

अधिनियम की कमियाँ व सुझाव

इस अधिनियम के सूक्ष्म अवलोकन से इसकी सफलता पर संदेह है। संक्षेप में, अधिनियम की कमियाँ व सुझाव निम्न प्रकार हैं—

एक अप्रैल 2010 को शिक्षा का अधिकार कानून लागू हुआ था। इस कानून के पीछे सरकार के असली इरादे स्पष्ट हो रहे हैं— समानता या इंसाफ की चिन्ता किये बिना, मुख्यतः पूँजीवादी बाजार की माँगें पूरी करना। निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिकार अधिनियम में एक समान सार्वजनिक सरकारी स्कूल व्यवस्था की मांग को खारिज कर दिया गया, जबकि दुनिया के अनेक विकसित देशों में, जहाँ स्कूली शिक्षा का अधिकार एक मूल अधिकार माना जाता है, वहाँ एक समान सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था ही इसका आधार है। उदाहरणार्थ— ब्रिटेन में 95 प्रतिशत माध्यमिक स्कूली छात्र सरकारी स्कूलों में जाते हैं, जहाँ समान पाठ्यक्रम, शिक्षा मापदण्ड और फीस होती है। भारत में अधिकतम सार्वजनिक सरकारी स्कूलों में शिक्षा के मापदंडों और ढाँचागत सुविधाओं की जानबूझकर उपेक्षा की गई है, जबकि निजी स्कूलों, जिनकी फीस अधिकतर मजदूर-मेहनकशों की पहुँच से बाहर है को विस्तार करने की पूरी इजाजत और प्रोत्साहन दी गई है। बच्चों के अनुपात में कक्षा-कक्षा की कमी

एवं पुराने विद्यालयों के भवन जर्जर अवस्था में हैं, जो कभी भी बड़ी दुर्घटना का कारण बन सकते हैं, अतः इनकी संख्या बढ़ाने के साथ-साथ मौजूदा विद्यालय भवनों की मरम्मत भी करवाई जानी चाहिए। वर्तमान में भी कई गाँव ऐसे हैं जहाँ दूर-दूर तक विद्यालय नहीं हैं अतः ऐसे गाँवों का सर्वे कर विद्यालय बनवाए जाएं।

विद्यालय व आवासीय क्षेत्रों में दूरी गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्राप्ति में बाधक है, इसके लिए दूरस्थ क्षेत्रों में विद्यालय खोले जाएं तथा ऐसे क्षेत्रों में सरकार द्वारा उचित परिवहन साधनों की भी व्यवस्था उपलब्ध करवानी चाहिए। निजी विद्यालयों में जहाँ वातानुकूलित कक्षा-कक्ष, स्वीमिंग पुल तथा व्यायामशाला होती है, वहाँ सरकारी विद्यालयों में आधारभूत सुविधाओं का भी अभाव पाया जाता है, वहीं सरकारी विद्यालयों के बच्चे आज भी सूर्य की तपन व टपकती छत में पढ़ाई करते देखे जा सकते हैं। इससे इस 'शिक्षा जगत' के देश में दो भिन्न स्थितियाँ प्रकट होती है। अधिनियम में कुल शिक्षक पदों में से 10 प्रतिशत से अधिक किसी भी अवस्था में खाली नहीं रखे जाएंगे, परन्तु 10 प्रतिशत शिक्षकों के पद खाली रहने का खामियाजा छात्रों को ही भुगतना पड़ेगा अर्थात् ऐसे में गुणवत्तायुक्त शिक्षा के लिए योग्य व समर्पित शिक्षकों की जरूरत होती है। देश में हजारों बच्चों को खतरनाक कार्यों और कारखानों में काम करना पड़ता है, अधिनियम में देश के भविष्य के इन बच्चों के पुनर्वास व शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। निजी व सरकारी विद्यालयों में भी इस अधिनियम में भेदभाव किया गया है, निजी विद्यालयों को मान्यता के लिए अधिनियम में बताए गए दिशा-निर्देशों को पूरा करने पर मान्यता मिलेगी, जबकि सरकारी विद्यालयों को बिना शर्त मान्यता स्वतः मिल जाएगी। विकलांग बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने के सम्बन्ध में अधिनियम मौन है, विकलांग बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने सम्बन्धी अधिनियम में 'अक्षमता' की परिभाषा 'व्यक्ति अक्षमता अधिनियम 1995' के अनुसार मानी गई है, जो कि 'राष्ट्रीय न्यास अधिनियम 1999' द्वारा बताई गई 'अक्षमता' की परिभाषा की शर्तों को पूरा नहीं करती।

सर्वाधिक चिन्ता का विषय यह है कि भारत में अनेक विषयों से सम्बन्धित उचित एवं श्रेष्ठ अधिनियम बनाए जाते हैं लेकिन उनका प्रभावी क्रियान्वयन किस स्तर तक हो पाता है, यह कहना कठिन है, समुचित दूरी पर विद्यालय की स्थापना एवं उसमें उचित अध्यापक और समुचित व्यवस्थाएं उपलब्ध कराना ही एक कठिन कार्य है, इसलिए आवश्यकता है कि अधिनियम को प्रभावी बनाने एवं शिक्षा को गुणवत्तापरक बनाए रखने के लिए एक समुचित समयबद्ध कार्य योजना तैयार कर लागू करने की, जिससे अतिशीघ्र इस अधिनियम को सकारात्मक परिणाम आ सकें।

संदर्भ :

1. त्यागी, जी0एस0डी0 एवं पाठक, भारतीय शिक्षा की समसामाजिक समस्याएँ, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, उ0प्र0
2. चौबे, बी0पी0, हिस्ट्री एण्ड प्रॉब्लम ऑफ इण्डियन एजुकेशन, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, उ0प्र0
3. सिंह, श्याम सुन्दर, शिक्षा पाने का अधिकार, प्रतियोगिता दर्पण आगरा, नवम्बर, 2011

डॉ० पुष्पा खण्डूड़ी

संत कवि रैदास के काव्य में व्याप्त सांस्कृतिक चेतना*

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल की निर्गुण भक्ति धारा के कवियों में संत रैदास का नाम आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है। संत रैदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे।

रैदास हमारौ राम जी, दशरथ करि सुत नाहिं

राम हमउ माहि रहयो, विसब कुटुं बह माहि।

गुरुग्रंथ साहब में रैदास की समाजोपयोगी 40 वाणियों एवं पद को संजोया गया है। पद्मश्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने डॉ० एन० सिंह द्वारा संपादित 'रैदास ग्रन्थावली' के आमुख में रैदास की विचारधारा के विषय में लिखा है— "संत कवि रैदास और उनकी विचारधारा तत्कालीन सन्दर्भों में एक सांस्कृतिक चमत्कार है। उसका महत्व आज भी उतना ही है, जितना सदियों पहले उनके समय में था। परिस्थितियां बाहरी रूप में कितनी भी बदली क्यों न दिखती हों किंतु वे आज भी व्यवस्था का अंग है। आज भी इसीलिए उनकी कविता की प्रासंगिकता और महत्त्व अक्षुण्ण है। उनका काव्य सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, राष्ट्रीय जीवन के शाश्वत मूल्यों की शंखध्वनि है और वे मूल्य हैं जीवन की निरन्तरता, आत्मा की अमरता, जो पुनर्जन्म के विश्वास में प्रतिबिम्बित हैं एवं जीवन की, जीवन मात्र की एकता, जो वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अद्वैत में प्रतिबिम्बित है।"

संत रैदास से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ समाज में प्रचलित हैं। उनमें से एक के अनुसार "रैदास ने 12 वर्ष तक गंगा की सेवा की है। अन्त में ब्रह्मा जी ने भी गंगा जाने की ठानी तो रैदास ने ब्रह्मा को एक पैसा दे दिया कि यह पैसा मेरी ओर से गंगा जी को चढ़ा देना। हरिजन के हाथ से पैसा लेते हुए घृणा का भाव मन में आया रैदास इस बात को भांप गए उन्होंने ब्रह्मा जी से कहा कि आप इस पैसे को लेते जाएं, उनकी भेंट ग्रहण करने के लिए गंगा जी स्वयं प्रकट होकर हाथ फैलाएगी, और स्वयं भेंट लेगी। ब्रह्मा पैसा लेकर चले, किन्तु रैदास का पैसा चढ़ाना भूल गए। लौटते समय इसी अपराध में ब्रह्मा जी की आँखें अंधी हो गईं। तब ब्रह्मा जी गंगा जी तक लौट कर गए और रैदास का पैसा चढ़ाया। ब्रह्मा जी की आँखें अच्छी हो गईं। पैसा चढ़ाने के उपलक्ष में गंगा ने प्रकट होकर उनको एक कंगन दिया और यह भी कहा कि लौटते समय यह कंगन मेरे भक्त रैदास को देना। लौटते समय ब्रह्मा जी की नीयत खराब हो गई और वह पुराने मार्ग से लौटने के बजाय दूसरे मार्ग से जाने लगे, जिससे उनकी रैदास से भेंट न हो। जब ब्रह्मा दूसरे मार्ग से जा रहे थे, तब उनको रैदास सामने दिखाई दिए। ब्रह्मा जिस भी रास्ते जाते, उसी रास्ते में हर ओर रैदास खड़े दिखाई देते। अन्त में हार कर उन्होंने गंगा का दिया हुआ कंगन रैदास को दे दिया और रैदास से क्षमा माँगी।"

*एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी, डी०ए०वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून

रैदास के सम्बन्ध में ऐसी अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं जिनके आधार पर सिद्ध होता है कि वे न केवल दलित अपितु दलितेतर समाज में भी सिद्ध पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित और पूज्य व्यक्ति थे।

निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। चौधरी इन्द्रराज सिंह अपनी पुस्तक 'संत रविदास' में लिखते हैं— "यह सत्य है कि तत्कालीन व्यवस्था के कारण और निम्न समझी जाने वाल चमार जाति का होने के कारण उन्हें किसी पाठशाला में बैठकर विधिवत् वेद, शास्त्रादि या गुरुमुख से अध्ययन करने का सुयोग मिलना सम्भव नहीं था। परन्तु उनकी वाणी के माध्यम से यह पता चलता है कि उन्हें वेद, उपनिषद् गीता, भागवत पुराण आदि के विषयों का सार और उनकी विचारधारा का पूर्ण ज्ञान था। यहाँ हम यह भूल जाते हैं कि वेद या ज्ञान सुनने और मनन करने से प्राप्त होता है। ऋषियों को यह उपलब्धि श्रवण और मनन दोनों स्रोतों से प्राप्त हुई थी। रैदास ने कृत्रिम अध्ययन को छोड़कर प्रभु की पाठशाला में पढ़ने का प्रयास किया। पुस्तक ज्ञान का बोध न होने पर भी इनका आत्मज्ञान पराकाष्ठा पर था।"

उस युग में शूद्रों को शिक्षा पाने का अधिकार नहीं होने के कारण वे अशिक्षित थे। उन्होंने ज्ञान भ्रमण, सत्संग, मनन और भक्ति से प्राप्त किया। 'प्रह्लाद चरित' में उन्होंने स्पष्ट कहा है—

हों पढ़यौ राम को नाम, आन हिरदै नहीं आनो।

विधिवत् शिक्षा न प्राप्त होने पर भी उन्हें वेद, उपनिषद् गीता और पुराणादि का दिव्य ज्ञान प्राप्त था। वे साधु सन्तों की खूब सेवा करते और कभी-कभी अपनी दुकान में व्यापार के लिए निर्मित जूते मुफ्त में साधुओं को पहना देते थे।

उनके पिता का नाम जनश्रुतियों में रग्घू तथा मानदास हैं एवं पत्नी का नाम 'लोना देवी'। वे नेक कमाई पर विश्वास करते थे उनके अनुसार नेकी की कमाई कभी निश्फल नहीं होती।

**"रैदास श्रम करि रवाइहिं, जौ लौ पार बसाय
नेक कमाई जउ करइ, कबहुँ न निहफल जाय"
ऐसी लाज तुझ बिनु कौन करै।"
गरीब निवाजु गुसाईयां मेरे माथे छत्रु धरे। टेक॥
जाकि छोति जगत् कउ लागै, ता पर तुहीं ढरै।
नीचहं ऊँच करे मेरा गोबिंदु, काहूते न डरै।"**

संत रैदास कमाकर खाने को श्रेष्ठ बताते हुए समाज में निठल्ली संस्कृति को मुँह चिढ़ाते प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं जो मनुष्य स्वकार्य में निरत रहता है प्रभु भी उसे ही मिल पाते हैं—

**जिह्वा सौं ओंकार जप, हत्थन सौ कर कार।
राम मिलहिं घर आइकर, कहि रैदास विचार।**

संत रैदास ने तत्कालीन संस्कृति के जाति-पाति वाली वर्ण व्यवस्था का भी घोर विरोध कर वर्ण हीन संस्कृति की परिकल्पना की।

**जन्म जात मत पूछिये का जात अरु पात
रैदास पूत सभ प्रभु के कोई नहीं जात कुजात।**

वे कहते हैं सभी एक माटी के घड़े जैसे हैं जिन्हें एक ही परमात्मा ने बनाया है।

**“रैदास एकै ब्रह्म का, होई रह्यो सगल पसार
एकै माटी सब घट सजै, एकै सभकुं सरजनहार।।”**

अन्यत्र वे कहते हैं—

**“रैदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच
नरकुं नीच करि डारि हैं, ओछे करम की कीच।।”**

प्रगतिशील समाज के निर्माण हेतु वर्ण व्यवस्था, जाति-पाति का विरोध कर सत्कर्म प्रधान संस्कृति के लिए रैदास ने भी गुरुनानक देव, कबीर आदि की तरह पर्याप्त संघर्ष किया है। उन्होंने परम्परांगत रूढ़िगत बन्धनों को तोड़ा तथा स्वानुभूति के आधार पर नूतन प्रतिमानों को आगे बढ़ाया। सदाचरण, समाज सुधार, सेवा, जाति-अभिमान खंडन, रूढ़िवाद का विरोध, एकता एवं भक्ति की महत्ता, सामाजिक कुरीतियों का खंडन आदि आचार-विचारों से उन्होंने एक सभ्य, शिष्ट एवं सुसंस्कृत समाज की परिकल्पना को ही साकार करने का प्रयास आजीवन किया। परिश्रम की कमाई, चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, दान, सभ्याचार, मित्रता आदि भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ उनके काव्य में यत्र-तत्र सर्वत्र विद्यमान दिखाई देती हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में कलाओं का भी विशिष्ट महत्त्व है। समस्त कलाएँ सूक्ष्म अथवा स्थूल सौन्दर्य से आप्लावित रहती हैं, चक्षु एवं कर्ण सदृष ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ पैर सदृश कर्मेन्द्रियाँ मिलकर कला का निर्माण एवं उसके सौन्दर्य की अनुभूति में सहायक सिद्ध होती हैं। जाति से चर्मकार होने का उन्होंने कभी मलाल नहीं किया। इसके विपरीत इसे उपयोगी कला मानते हुए काम और राम का सुन्दर समन्वय करते हुए कहा— **“जिह्वा सों ओंकार जप, हत्थन सोंकर कर कार।”**

अपनी एक साखी में वे स्पष्ट लिखते हैं—

**“रैदास ब्राह्ममन मति पूजिए, जरु होवे गुन हीन।
पूजहिं चरन चंडाल के जरु, होवे गुन परवीन।।”**

रैदास सुकर्म में विश्वास रखते हैं उनका मानना था कि अपने कर्मों से ही मनुष्य नीच और ऊँच होता है। दया और धर्म जिनके हृदय में नहीं बसते वे महान पापी और नीच होते हैं, काम, क्रोध, मद मोह और लोभ सदृष पंच विकार हैं इन्हें त्याग कर मानव देवता हो सकता है—

**“सत्त, सन्तोश अरु सदाचार, जीवन का आधार
रैदास भयै नर देवते जिन तियागे पंच विकार।।”**

कबीर के समान ही वह भी माँस भक्षण और हिंसा के घोर विरोधी हैं—

दया भाव हिरदै नहीं, भरवहिं पराया मांस ।
ते नर नरकहिं जाइहिं, सत भाजै रैदास ॥
जीव कूं मुरदा करहिं, अरु खा इहिं मुरदार ।
मुरदा सम सभ होइहिं, कहि रैदास विचार ॥

रैदास कौमी एकता के भी पक्षधर रहे हैं। वे कहते हैं जैसे सोने का कंगन और सोने में अन्तर नहीं है वैसे ही हिन्दू और मुसलमान में भी भेद नहीं है—

“रैदास कंगन और कनक मंहि, जिमि अन्तर कहु नाहिं ।
तैसउ ही अन्तर नहीं, हिन्दुअन तुरकन मांहि ॥”
“हिन्दू तुरक नहीं कछु भेदा, सभ मंह एक रक्त और मांस ।
दोऊ एकह दूजा कोऊ नांही, पेख्यो सोध रैदासा ॥”
मुसलमान सौ दोस्त, हिंदुअन सौ कर प्रीत ।
‘रैदास’ जोति सभ राम की, सभ हैं अपने मीत ॥”

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता की प्रमुखता है। उनके अनुसार ईश्वर की सच्ची भक्ति मन की शुद्धता और पवित्रता है। मंदिर, मस्जिद, काबा, काशी से सरोकार न होकर वे कहते हैं ‘मन चंगा तो कटौती में गंगा। वे मानते हैं कि प्रभु का वास तो मानव हृदय में होता है काशी, मक्का, मथुरा में नहीं है।

“का मथुरा का द्वारका, का काशी हरद्वार ।
‘रैदास’ खोजा दिल आपना, तउ मिलिया दिलदार ॥”
“कहा भयौ जे मूंड मुंडायौ, बहु तीरथ ब्रत कीन्हें ।
स्वामी दास भगत अरु सेवक, जौ परम तत्त नहीं चीन्हें ।
भगती औसी सुनहु रे भाई! आई भगति तउ गई बड़ाई ॥
कहा भयौ नाचैं अरु गायैं, कहा भयौ तप कीन्हें ।
कहा भयौ जै चरन पशालें, जौ लौं परम तत्त नहीं चीन्हें ।

उनके अनुसार भक्ति आडम्बर नहीं अपितु परम तत्त्व को पहचानना है। यही कारण है कि युग आए युग गए, किन्तु समय की शिला पर लिखे सन्त रैदास के नाम को कोई आँधी नहीं मिटा पाई। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से सिद्ध कर दिया कि महानता किसी जाति धर्म

अथवा राष्ट्र की मोहताज नहीं है वे मानवता की अमर विभूति है भक्ति ज्ञान और कला की अद्भुत मिसाल है। उनके विशय में पदमश्री कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ ने लिखा है कि ‘रैदास एक ऐसी क्रान्तिकारी विभूति है, जिन्होंने अपने जीवन की शान्त ज्वाला से पशुता में घिरे उन मानवों को आत्महीनता से बचाया और धर्म की मूल भावनाओं को सदियों तक सम्पृक्त रखा।” कष्टों, अपमान तथा तिरस्कार की ज्वाला में तप कर कुन्दन बन निखरे रैदास की सर्जना आज के सांस्कृतिक परिवेश की कसौटी में परखी हुई हुई सच्ची मानवता की मर्मभेदी अजस्र गाथा है। रैदास ही हिन्दी में दलित चेतना युक्त साहित्य के प्रथम दलित

रचनाकार हैं। आज के युग में रचे जा रहे दलित साहित्य के साहित्यकारों एवं समीक्षकों हेतु वे आज भी किसी आकाशदीप से कम नहीं। उनकी महिमा में निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

ऐसो अजगैबी रवि दासा, अन्धकार को कियो विनासा,
परम पुरुष रविदास को जानै सब संसारा।।
जिहिं किरिया सो उधरे पातित दीन नरु नार।
पंडित गुनी कोई ढिग न बिठाये वेद शास्त्र किन्हू न पढ़ाये।
कागज कलम मसि कछु नहिं जाना। सतगुरु दीन्हो पूरन ग्याना।

आधार ग्रन्थ

1. संत कवि रैदास: मूल्यांकन और प्रदेय: डॉ० एन० सिंह, पुखराज प्रकाशन, खतौली उ०प्र० संस्करण 1983
2. संत रविदास: इन्द्रजात सिंह, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण— 1986
3. संत गुरु रविदास वाणी: सं० डॉ० बी० पी० शर्मा, सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली—6, संस्करण, 1978
4. रैदास ग्रन्थावली, सम्पादक— डॉ० एन० सिंह, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद संस्करण 2003

सन्दर्भ

1. रैदास ग्रन्थावली — संपादक डॉ० एन० सिंह (अन्तरंग दृष्टि)
2. वही, पृष्ठ— 82
3. संत रविदास : इन्द्रराज सिंह, पृष्ठ— 48
4. संत गुरु रविदास वाणी : डॉ० बी० पी० शर्मा, पृष्ठ— 147
5. संत गुरु रविदास वाणी— पृष्ठ — 117
6. रैदास ग्रन्थावली, पृष्ठ— 152
7. वही, पृष्ठ— 145
8. वही, पृष्ठ— 153
9. संत कवि रैदास: मूल्यांकन और प्रदेय, पृष्ठ— 34
10. वही, पृष्ठ— 36
11. रैदास, ग्रन्थावली, पृष्ठ— 159
12. संत कवि रैदास: मूल्यांकन और प्रदेय, पृष्ठ—प्रदेय, पृष्ठ— 35
13. वही
14. वही
15. रैदास ग्रन्थावली, पृष्ठ— 169

1942 ई0 का भारत छोड़ो आन्दोलन: एक मूल्यांकन राजकुमार कसेरा*

औपनिवेशिक काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के इतिहास में 1857 ई0 के पश्चात असहयोग आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत में महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक दर्शन को स्थापित कर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक तीव्र विरोध छोड़ दिया। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन एक नये रूप में विकसित होता, इससे पूर्व ही सितम्बर 1939 ई0 में जर्मनी के पोलैण्ड पर आक्रमण से द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने भारतीयों की ओर से जर्मनी, जापान और इटली के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। गाँधी जी ने वायसराय से मिल कर युद्ध में ब्रिटेन के प्रति नैतिक समर्थक का इजहार किया। गाँधी जी ने कहा: “यद्यपि भारत और ब्रिटेन के बीच भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न पर मतभेद है किन्तु भारत को इस खतरे की स्थिति में ब्रिटेन की सहायता करनी चाहिए।”¹ गाँधी जी के इस वक्तव्य से भारतीय में रोश व्याप्त हो गया तथा समाजवादियों और साम्यवादियों ने गाँधी जी का विरोध किया।

कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर वायसराय से भारतीयों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान करने को कहा तथा युद्ध में भारतीयों के द्वारा सहयोग प्रदान करने की बात कही गयी। वायसराय ने उत्तर में कहा कि यह युद्ध आत्मरक्षा तथा नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाने के लिए लड़ा जा रहा है ताकि आगे युद्ध से बचा जा सके। कांग्रेस यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजी शासन भारत को स्वतंत्र करने में कोई रुचि नहीं ले रही है। फलस्वरूप कांग्रेस शासित आठ राज्यों के विधानमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया। लेकिन गाँधी जी एवं कांग्रेस युद्ध प्रयासों में बाधा नहीं डालना चाहते थे। गाँधी जी का कहना था कि “हम भारत की स्वतंत्रता ब्रिटेन की विनाश पर नहीं चाहते।”² जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि इंग्लैण्ड की कठिनाई भारत के लिए सुअवसर नहीं है। “ऐसे समय पर ब्रिटेन को असमंजस में डालना भारतीय प्रतिष्ठा के विरुद्ध है जब वह जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहा है।”³

युद्ध के कारण आवश्यक वस्तुओं का उपलब्ध न होना तथा मूल्यों की वृद्धि के कारण अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध असन्तोष बढ़ रहा था।⁴ वायसराय लिनलिथगो का अगस्त प्रस्ताव और मार्च 1942 ई0 के क्रिप्स प्रस्तावों की असफलता के पश्चात गाँधी जी को यह विश्वास हो गया था कि संघर्ष करने का समय आ गया है। जून 1942 ई0 में अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर को दिये गये साक्षात्कार में गाँधी जी ने कहा, “कि मैं तो बेताब हो गया हूँ। हो सकता है कि मैं कांग्रेस को राजी न कर सकूँ। तो भी मैं आगे बढ़ कर सीधे लोगों से ही बात करूँगा”⁵ 1942 ई0 में गाँधी जी एक विचित्र एवं अनोखी संघर्षशील मनोस्थिति में थे। वे बार-बार अंग्रेजों से कह रहे थे कि वे भारत को ईश्वर या अराजकता के भरोसे छोड़ दे।⁶ उन्होंने अपने पत्र हरिजन में कहा कि यदि अंग्रेज चले जाते हैं तो जापानी

* शोध छात्र (इतिहास)जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वलियर (म0प्र0)

अवश्य अपनी योजनाओं पर पुनर्विचार करेंगे और जो कुछ भी हो यह भारतीयों पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि वे इस समस्या का सामना कैसे करते हैं।⁷ गाँधी जी को आने वाले संघर्ष के लिए अब देर करना गलत लग रहा था। उन्होंने कांग्रेस द्वारा आन्दोलन के प्रस्ताव को स्वीकार न करने की दशा में चुनौती दे डाली कि “मैं अपने देश की बालू से ही कांग्रेस से बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दूंगा।”⁸ गाँधी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का रक्तहीन अंतकर एक नए युग की आकांक्षा करते थे।⁹

7 अगस्त 1942 को बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। महात्मा गाँधी ने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के समक्ष 8 अगस्त 1942 ई० को भारत छोड़ो प्रस्ताव पेश किया, इसमें कहा गया कि भारत में ब्रिटिश शासन का तात्कालिक अंत, मित्र राष्ट्रों के आदर्शों की पूर्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है इसी के ऊपर युद्ध का भविष्य एवं स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है। इसी अधिवेशन में अगस्त प्रस्ताव अथवा भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित कर दिया गया, जो पूर्ण रूप से महात्मा गाँधी के अहिंसा दर्शन पर आधारित था।¹⁰

कांग्रेस के इसी अधिवेशन में गाँधी ने “अंग्रेजों भारत छोड़ो” के साथ देश को “करो या मरो” का संदेश दिया। गाँधी ने 140 मिनट के लम्बे सम्बोधन में कहा कि “मैं फौरन आजादी चाहता हूँ, आज रात को ही, कल सबेरे से पहले आजादी चाहता हूँ।”¹¹ महात्मा गाँधी के इस भाषण पर टिप्पणी करते हुए पट्टाभि सीतारमैया ने भी कहा है कि “गाँधी उस दिन एक अवतार एवं पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर बोल रहे थे।”¹²

अभी आन्दोलन शुरू भी नहीं हुआ था कि “आपरेशन जीरो अवर” के तहत गाँधी समेत सभी कांग्रेस कार्य समिति के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। नेताओं के अभाव में अब आन्दोलन नेतृत्वविहीन हो गया था। कांग्रेस के कुछ बचे हुए भूमिगत नेताओं ने आन्दोलन के लिए एक बारह सूत्री कार्यक्रम जारी किया, जिसमें हड़ताल, सार्वजनिक सभाएँ, लगान, असहयोग, नमक बनाना आदि प्रमुख थे।

महात्मा गाँधी और अन्य बड़े नेताओं की गिरफ्तारी से नेतृत्व विहीन तथा स्वतः स्फूर्त आन्दोलन बहुत तेजी से फैला। शुरुआत में आन्दोलन उग्र रहा तथा इसमें हिंसा भी समाहित रही। शुरु में आन्दोलन ने सफलता का रूख किया तथा कई जगह समानान्तर सरकारों का गठन किया गया, जो अस्थायी सिद्ध हुई। सरकार ने दमनकारी रूख अपनाया और आन्दोलन को निर्मम तरीके से दबाने में कामयाब रही।

कांग्रेस द्वारा चलाये गये आन्दोलन के प्रति दूसरे दलों की नीति अलग-अलग रही थी। मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया। उसने आन्दोलन को मुसलमानों के विरुद्ध बताया और इसमें किसी प्रकार से भाग न लेने को कहा।¹³ जिन्ना ने कहा कि यदि अंग्रेज भारत छोड़ देगे तो भारत में जंगल का कानून लागू हो जाएगा।¹⁴ शुरु में

भारतीय साम्यवादियों ने द्वितीय विश्व युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध मानते हुए

आन्दोलन का समर्थन किया, लेकिन रूस के युद्ध में शामिल हो जाने पर भारतीय साम्यवादी दल ने इस युद्ध को जनता का युद्ध कहने लगे तथा भारत छोड़ो आन्दोलन का आलोचक हो गये।¹⁵

तेजबहादुर सप्रू जैसे उदारवादी नेता ने भी कहा कि आन्दोलन अकल्पित और असामायिक है।¹⁶ इस आन्दोलन के प्रति हिन्दू महासभा के नेताओं का दृष्टिकोण नकारात्मक रहा। उन्होंने शुरू में सरकार के कार्यों की कटु निन्दा की और साथ ही आन्दोलन में हिन्दुओं के भाग न लेने के लिए कहा।¹⁷

ब्रिटिश शासन फूट जाओ और राज करो की नीति में सफल रही। भारत छोड़ो आन्दोलन विरुद्ध सिपाहियों का विद्रोह था, उसी प्रकार 1942 ई० का आन्दोलन मूलतः युवा वर्ग का, मजदूरों का और विद्यार्थियों का विद्रोह था।¹⁹

सन्दर्भ:—

1. भुयन, अरुन चन्द्र—द क्विट इण्डिया मूवमेंट: द सेकंड वर्ल्ड वार ऐंड इंडियन नेशनलिज्म, नई दिल्ली: मानस पब्लिकेशंस 1957 पृष्ठ 04।
2. बोस, सुभाष चन्द्र—द इंडियन स्ट्रगल 1920—42, बम्बई: एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1967 पृष्ठ 334
3. वही, पृष्ठ 334।
4. चंद्रा, विपिन एवं अन्य—भारत का स्वतंत्रता संघर्ष हि.मा.का.नि.1998, पृष्ठ 366
5. शुक्ल, रामलखन—आधुनिक भारत का इतिहास, हि.मा.का.नि.1998, पृष्ठ 832
6. सरकार, सुमित—आधुनिक भारत, नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1993, पृष्ठ 408
7. हरिजन में 3 मई 1942 ई का लेख : अहमदाबाद
8. चंद्रा, विपिन एवं अन्य—भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हि.मा.का.नि.1998, पृष्ठ 367
9. सिंह, वीरकेश्वर प्रसाद—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पटना: ज्ञानदा प्रकाशन, 1988, पृष्ठ 227।
10. अगस्त प्रस्ताव प्रारूप — नई दिल्ली: नेहरू संग्रहालय एवं पुस्तकालय, तीन मूर्ति भवन,
11. त्रिवेदी, रामनरेश— भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, राँची: सुबोध ग्रन्थ माला कार्यालय, 1977. पृष्ठ 164।
12. वही, पृष्ठ 165।
13. कुमार, प्रभात— स्वतंत्रता संग्राम और गाँधी का सत्याग्रह, हि.मा.का.नि.1994, पृष्ठ 70
14. डाउन, दिल्ली, 19 जुलाई 1942।
15. कुमार, प्रभात— वही, पृष्ठ 69।
16. वही, पृष्ठ 69।
17. टाइम्स ऑफ इण्डिया, बम्बई, 11 अगस्त 1942,।
18. चंद्र, विपिन— आधुनिक भारत का इतिहास, हि.मा.का.नि., पृष्ठ 375।
19. कश्यप, सुभाष—संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 185।

समकालीन भारत में राजनीति का बदलता स्वरूप

हंसा चौधरी*

लेख सारांश

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। संसदात्मक शासन प्रणाली का अनुसरण करने वाले भारत देश में स्वतंत्रता के पश्चात् की राजनीति एवं वर्तमान समय की राजनीति में अत्यधिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। मतदाता की जागरूकता इस परिवर्तन का एक अहम पहलू है। इस जागरूकता में शिक्षा एवं जन-संचार के साधनों ने विशेष भूमिका का निर्वाह किया है। राजनीतिक दल स्वच्छ छवि के उम्मीदवारों को चुनाव मैदान में उतार रहे हैं। राजनीतिक दल ये सुनिश्चित कर रहे हैं कि उनकी जनता के मध्य अधिक से अधिक पहुंच बनें। राजनीति में जाति की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन 16वीं लोकसभा चुनावों में भारतीय जनता पार्टी को जनता द्वारा जो प्रचण्ड बहुमत दिया गया है, उससे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि जाति आधारित मतदान के प्रतिशत में गिरावट आई है। मतदाता ऐसे व्यक्ति को अपना नेता चुनना चाहता है, जो सकारात्मक विचारधारा का अनुसरण करता हो। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी में जनता को ऐसे ही ऊर्जावान् नेता के गुण दिखाई दिए, जिस कारण विशाल जनादेश उनके पक्ष में आया।

लेख

वर्तमान में भारत विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र का प्रतिनिधित्व कर रहा है। लगभग 250 वर्षों की गुलामी की जंजीरों को तोड़ कर जब भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ तब स्वतंत्रता प्राप्त होने के उल्लास के साथ एक असमंजस की स्थिति बनी हुई थी कि 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला भारत, जिसे अंग्रेज पूरी तरह लूट कर जा चुके थे, को उसके पैरों पर कैसे खड़ा किया जाए? चूंकि 28 दिसम्बर, 1885 को अस्तित्व में आई अखिल भारतीय कांग्रेस सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र संस्था थी, जिसके नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन चलाया गया। भारत की स्वतंत्रता में अखिल भारतीय कांग्रेस का महत्वपूर्ण योगदान रहा। अतः फरवरी 1952 में आयोजित प्रथम आम चुनावों में कांग्रेस दल को प्रचण्ड बहुमत मिला एवं पं. जवाहर लाल नेहरू ने प्रधानमंत्री पद संभाला। नेहरू जी एकमात्र भारतीय प्रधानमंत्री रहे हैं, जिन्होंने लगातार 17 वर्षों तक प्रधानमंत्री एवं विदेश मंत्री दोनों महत्वपूर्ण पदों की भूमिका का निर्वाह किया। साथ ही नेहरू जी 1951 से 1955 तक कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में अपनी भूमिका निभाई, जब पी.डी. टण्डन ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस दल का वर्चस्व तत्कालीन समय में न केवल केन्द्रीय स्तर पर आच्छादित था, अपितु अधिकांश राज्यों में भी कांग्रेस दल, कुछ अपवादों को छोड़कर, का प्रभुत्व रहा।¹

*सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय दलीय व्यवस्था की आरम्भिक अवस्था को डब्ल्यू.एच. मौरिस जॉन्स एवं रजनी कोठारी जैसे विद्वानों ने “एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली” के रूप में रेखांकित किया। इस अवस्था में जनसंघ एवं भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी जैसे राजनीतिक दलों की उपस्थिति के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सर्वाधिक शक्तिशाली राजनीतिक दल के रूप में उभरी थी।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् की राजनीति एवं वर्तमान राजनीति में कोई अन्तर दिखाई देता है या नहीं? भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में आए परिवर्तन सकारात्मक है अथवा नकारात्मक?

स्वतंत्रता के पश्चात् प्रथम लोकसभा के कार्यकाल में पहले से चली आ रही नीतियों का अनुसरण किया गया। उस समय कांग्रेस की एक नीति में परिवर्तन आया। व्यावहारिक रूप से कांग्रेस अध्यक्ष का चयन प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता था, लेकिन बाद में प्रधानमंत्री के चयन में कांग्रेस अध्यक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण होने लगी। उदाहरण स्वरूप, कांग्रेस अध्यक्ष रहे कामराज ने लाल बहादुर शास्त्री एवं श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने में अहम् भूमिका निभाई। लेकिन श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस स्थिति में एक बार फिर से परिवर्तित करते हुए कांग्रेस अध्यक्ष पद को प्रधानमंत्री पद से आच्छादित कर दिया। अब प्रधानमंत्री की इच्छानुसार कांग्रेस अध्यक्ष का चयन प्रारम्भ हुआ। वर्ष 1978 में स्वयं अध्यक्ष भी बनी एवं 1984 तक इस पर आसीन रही। 1984 में राजीव गांधी भी प्रधानमंत्री होने के साथ-साथ कांग्रेस अध्यक्ष भी थे।¹

वर्ष 2004 के पश्चात् से प्रधानमंत्री पद पर दल-अध्यक्ष का जिस प्रकार का वर्चस्व स्थापित हुआ है, उस प्रकार की सशक्त भूमिका दल-अध्यक्ष ने कभी भी नहीं निभाई। वर्ष 2004 में कांग्रेस ने अन्य दलों के सहयोग से संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन का निर्माण किया, जिसकी अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गांधी बनी, लेकिन उन्होंने प्रधानमंत्री पद अस्वीकार कर दिया एवं डॉ. मनमोहन सिंह को प्रधानमंत्री बनवा दिया। वर्ष 2009 में भी एक बार पुनः डॉ. मनमोहन सिंह को ही सरकार का नेतृत्व सौंपा गया, जिसकी घोषणा संप्रग अध्यक्ष सोनिया गांधी ने पूर्व में ही कर दी थी। कदाचित् इन्हीं सब कारणों से डॉ. मनमोहन सिंह को विपक्ष द्वारा “कमजोर प्रधानमंत्री” कहा गया, जो किसी अन्य की इच्छा से प्रधानमंत्री बना हो।

प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व ने भी भारतीय राजनीति में कई बदलाव लाए हैं। जैसे श्रीमती इंदिरा गांधी का प्रधानमंत्री के रूप में एक तानाशाह के समान व्यवहार करना। वर्ष 1975 का आपातकाल इसका एक जीवन्त उदाहरण है। उनका न केवल संघीय स्तर पर एकछत्र प्रभुत्व था, बल्कि उनका राज्यों की राजनीति में भी उतना ही हस्तक्षेप रहा। यहां तक की कुछ अवसरों पर कतिपय राज्यों के मुख्यमंत्री भी उनकी इच्छानुसार नियुक्त किए गए। उदाहरण के लिए गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में ओझा, मध्य प्रदेश में सेठी, उड़ीसा में श्रीमती सत्पथी, पश्चिम बंगाल में एस.एस. राय, आन्ध्र प्रदेश में बेंगल राव एवं उत्तर प्रदेश में

एच.एस. बहुगुणा की नियुक्ति केवल प्रधानमंत्री का व्यक्तिगत चयन था।³ वर्ष 1971 के लोकसभा चुनावों में श्रीमती गांधी को प्रबल समर्थन ने भारतीय राजनीति में व्यक्ति-पूजा की प्रवृत्ति को बल प्रदान किया।

वर्ष 1977 में कांग्रेस (आई) को सत्ता से बेदखल कर 'जनता पार्टी' ने सरकार बनाई, जो स्वयं चार मुख्य दलों, जनसंघ, भारतीय लोकदल, कांग्रेस (ओ) एवं सोशलिस्ट पार्टी के मिश्रण से बनी थी। वर्ष 1968 में कांग्रेस के विभाजन से कांग्रेस (आई) एवं कांग्रेस (ओ) का निर्माण हुआ। इस घटना को एम.पी. सिंह "महान कांग्रेस विभाजन" की संज्ञा देते हैं।⁴ तो कांग्रेस (आई) जो श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में थी तथा कांग्रेस (ओ) जो इंदिरा गांधी के विरोधी थे। इस प्रकार यह चार दलों का महागठबंधन कहा जा सकता है जिसने नए दल का निर्माण कर श्रीमती इंदिरा गांधी की तानाशाहपूर्ण रवैये पर लगाम लगाई। सरकार यद्यपि असफल हुई, लेकिन कांग्रेस (आई) के एकछत्र राज पर जनता पार्टी 'बैरियर' लगाने में अवश्य सफल रही थी।

भारतीय राजनीति में जो परिवर्तन दिखाई देता है, वर्ष 1989 का आम चुनाव उसका सटीक उदाहरण है। वी.पी. सिंह ने, जिन्हें राजीव गांधी पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाने के कारण कांग्रेस (आई) से निष्कासित कर दिया गया था, जनमोर्चा का गठन किया तथा कांग्रेस के अन्य विरोधी दलों के समर्थन के आधार पर सरकार का निर्माण किया। उस समय लोकसभा में यद्यपि कांग्रेस (आई) सबसे बड़ी पार्टी थी, लेकिन यह गठबंधन सरकार के निर्माण की समर्थक नहीं रही, लेकिन वी.पी. सिंह सरकार के पतन के बाद जनता दल (सोशलिस्ट) के नेता चन्द्रशेखर के नेतृत्व में सरकार बनी, जिसे कांग्रेस (आई) द्वारा बाहर से समर्थन दिया गया। इसका तात्पर्य यह रहा कि कांग्रेस स्वयं किसी की गठबंधन सरकार का नेतृत्व नहीं करना चाहती थी, जबकि चन्द्रशेखर सरकार को बाहर से समर्थन देकर उसने यह स्पष्ट कर दिया कि वह किसी मिली-जुली सरकार का घटक अवश्य बन सकती है, जबकि वर्ष 1960 में केरल में हुए मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस, प्र.सो.पा. एवं मुस्लिम लीग के मोर्चे ने कम्युनिस्ट पार्टी को हरा कर संयुक्त सरकार बनाई थी।⁵

गठबंधन सरकारों का निर्माण यह स्पष्ट करता है कि पूर्व में जहां 'एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली' स्थापित थी, वर्तमान में कोई भी ऐसा राजनैतिक दल नहीं है जो इस प्रकार का दावा कर सके। कांग्रेस भी वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य में आए परिवर्तन को स्वीकार कर चुकी है तथा इसी का परिणाम है संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन। यह आम राय है कि एक दल की सरकार मिली-जुली सरकार से अधिक स्थिर है और भारत के संदर्भ में इसमें दो राय भी नहीं हैं। वर्ष 1989, 1990, 1996, 1997, 1998 में बनी गठबंधन सरकारें इस तथ्य की सत्यता को प्रकट करती हैं। लेकिन श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी 24 राजनैतिक दलों की मिली-जुली सरकार ने अपना 5 वर्ष का कार्यकाल पूर्ण किया एवं इस भ्रम को तोड़ा भी।

वर्ष 2004 एवं 2009 में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन ने अपना कार्यकाल पूर्ण किया है। वर्तमान में भाजपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार सत्तारूढ़ है।

वर्तमान राजनीति परिदृश्य में भ्रष्टाचार विरोधी वातावरण बना हुआ है, जिसका प्रारम्भ अन्ना हजारे के आन्दोलन से माना जा सकता है। जनता इस आन्दोलन से व्यापक स्तर पर जुड़ी रही, जिसका परिणाम रहा जनता में जागरूकता का बढ़ना। मतदाता अपनी शक्ति को पहचान रहा है। वह ऐसा नेता चाहता है, जो ईमानदार छवि का हो। अरविन्द केजरीवाल ने 'आम आदमी पार्टी' का गठन इसी उद्देश्य से किया था कि राजनीति से भ्रष्टाचार खत्म किया जाए एवं आम आदमी का राजनीति से जुड़ाव हो। राजनीति से अपराधी, बेईमान एवं दागी नेताओं को बाहर किया जाए। केजरीवाल इसमें कितने सफल रहे हैं, यह अनुसंधान का विषय नहीं है, लेकिन इसका प्रभाव अन्य दलों की विचारधारा पर अवश्य दिखाई दिया। जब राहुल गांधी 16वीं लोकसभा के समय यह कहते दिखाई दिए कि योग्य व्यक्ति को ही टिकट दिया जाए। अन्य दलों ने भी इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया तथा ईमानदार एवं स्वच्छ उम्मीदवारों के चयन करने का प्रचार किया गया। आज मतदाता राजनैतिक दल के साथ ही उम्मीदवार के विषय में भी जागरूक हुआ है। वह जानना चाहता है कि उसके निर्वाचन क्षेत्र में खड़े हुए उम्मीदवार की पृष्ठभूमि कैसी रही है एवं वह ईमानदार छवि का है या नहीं?

भारतीय राजनीति के परिदृश्य में जो परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं, वे क्रमिक विकास के परिणाम रहे हैं। स्वतंत्रता पश्चात् की राजनीति में मुख्यतया अभिजात वर्ग के लोग ही सक्रिय रहे हैं, परन्तु वर्तमान में साधारण व्यक्ति भी राजनीति में लगाव रखता है। शिक्षा के स्तर में वृद्धि ने मतदाता की सोच में परिवर्तन किया है। 'एक दलीय प्रधानता वाली बहुदलीय प्रणाली' पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी है। वर्तमान में कोई भी राजनैतिक दल संघीय स्तर एवं राज्य स्तर पर अपनी सशक्त भूमिका का दावा नहीं कर सकता है।

भारतीय राजनीति में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन नकारात्मक भी रहे हैं एवं सकारात्मक भी। पहले व्यक्ति मतदान करने तक ही राजनीति से जुड़ता था। आज का मतदाता राजनीति की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से अवगत रहता है तथा वह प्रत्येक घटनाक्रम पर स्वयं की विचारधारा भी रखता है। इस कार्य में समाचार-पत्रों, इन्टरनेट, टी. वी. आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पूर्व में मीडिया इतना विकसित नहीं था तथा आम आदमी तक इसकी पहुंच भी नहीं थी। शिक्षा के प्रसार ने इस जागरूकता में अहम भूमिका का निर्वाह किया है। राजनीतिक दल आज सीधे तौर पर जनता से जुड़ गए हैं। राजनीति में जाति का अपना अलग प्रभाव रहा है, लेकिन मतदाता कुछ अवसरों पर जातिगत दायरे से बाहर आकर अपना मत दे रहे हैं जैसा 16वीं लोकसभा में भाजपा को मिला प्रचण्ड बहुमत। इसमें मतदाता ने "मोदी-लहर" के आधार पर मतदान किया।

अपनी प्रत्येक विदेश यात्रा का मोदी द्वारा ट्वीटर या अन्य सोशल साइट्स पर

अपडेट करना इसका एक उदाहरण है कि सरकार भी जनता के मध्य अपने छवि को सकारात्मक रूप से प्रस्तुत करना चाहती है। मोदी का 'मन की बात' कार्यक्रम जनता से सीधे सम्पर्क का श्रेष्ठ माध्यम है, जो उन्हें जनता की क्रिया-प्रतिक्रिया से अवगत कराता है।

नकारात्मक पहलू पर दृष्टिगत किया जाए, तो वर्तमान में भी धन-बल, बाहुबल के दम पर अपराधी छवि के व्यक्ति राजनीति में प्रवेश कर ही लेता है। क्योंकि सबसे बड़ी समस्या है नकारात्मक पहलू पर दृष्टिगत किया जाए, तो वर्तमान में भी धन-बल, बाहुबल के दम पर अपराधी छवि के व्यक्ति राजनीति में प्रवेश कर ही लेता है। क्योंकि सबसे बड़ी समस्या है

अपराध-अपराध में अन्तर करने की। कोई अपराध किस श्रेणी का है व सजा के लायक है या नहीं, इसका निर्णय तो न्यायालय ही कर सकते हैं। मनमोहन सिंह ने यूपीए सरकार में सम्मिलित दागी मंत्रियों के सवाल पर आपत्ति उठाये जाने पर कहा कि जब तक किसी को सजा नहीं होती, किसी को भी दोषी नहीं माना जा सकता है।⁶ इस प्रकार जब सजा नहीं होगी, इसका तात्पर्य है वह ईमानदार छवि का है।

इस प्रकार राजनीति में गुणों के साथ दोष विद्यमान है। यदि मतदाता किसी भी प्रकार के दबाव के बिना मतदान करें, तो इस दोष को दूर किया जा सकता है। राजनीतिक दल, जो केवल येन-केन-प्रकारेण चुनाव में जीत दर्ज करना चाहते हैं, उनकी इस मनोवृत्ति पर रोक लगाई जा सकती है। सरकार अपनी जिम्मेदारी का सही रूप में निर्वहन करें, इस हेतु उस पर हमेशा जनमत का दबाव होना चाहिए।

संदर्भ —

1. सिंह, महेन्द्र प्रसाद (प्रस्तावना), चौधरी, बसुकी नाथ एवं कुमार युवराज (संपादक), भारतीय शासन एवं राजनीति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, आसफ अली रोड़, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 354.
2. सईद, एस.एम., भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2015, पृ.सं. 161.
3. सईद, एस.एम., भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2015, पृ.सं. 165.
4. सिंह, महेन्द्र प्रसाद (प्रस्तावना), चौधरी, बसुकी नाथ एवं कुमार युवराज (संपादक), भारतीय शासन एवं राजनीति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, आसफ अली रोड़, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 354.
5. कोठारी, रजनी, भारत में राजनीति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 123.
6. खण्डेला, मानचंद, वर्तमान भारतीय राजनीति, अरिहंत पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2008, पृ.सं. 61.

प्रो० बिमान बिहारी दास की मूर्तिकला में श्रृंगारिक प्रेम की अभिव्यक्ति संजीव कुमार*

संक्षेप

कला अनुभव के ऐसे आधार या लक्षण पर आधारित है, जो चित्त में घटित होता है— सृजन का वह केंद्र जहां विबं की वास्तविक आकृति/ आकार निर्धारित होता है। अतः यह जरूरी है कि उस अनुभव को पुनरुज्जीवित करने के लिए इस चित्त शक्ति को सक्रिय रूप से कोई स्वरूप और उसे कोई नाम दिया जाए। चित्त न तो बुद्धि है और न ही भावना। चित्त को कवियों ने हृदय कहा है और इसे मूलाधार माना है जो ब्रह्म अथवा देवी का प्रतीक है— सभी तरह के कार्यकलापों का उत्पत्ति स्थल है।

छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार हृदयाकाश— किसी व्यक्ति के अंतरतम का वह आदर्श स्थान जहां चित्त का सम्मिलन होता है— आनंद जनक है। इस तरह सत्—चित्त—आनंद एक महत्वपूर्ण सूत्र बना। आत्मिक आनंद और सौंदर्यपरक आनंद को ही माना जाता है क्योंकि इन दोनों को अनुभव करने के लिए तललीन व अतर्मुखी होना जरूरी होता है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, कालातीत ब्रह्मांडीय लय को प्राप्त करने के लिए, अकाल और कला ओनों कलाकार के सृजन कार्य को पूरा करते थे। इसका महत्व और भी बढ़ गया क्योंकि तब कलाकार की गहरी तल्लीनता की धडकन बन गया। इसकी अभिव्यक्ति कलाकार द्वारा सृजित ठोस बिबसें में होती थी। अपनी कल्पना की मदद से कलाकार जीवन से जुझने के बाद गूढ़ तथा अर्थपूर्ण आध्यात्मिक बिंब को किसी आकृति में बदल पाता था। इस कलानुभव का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह था कि मानव चेतना और आत्मन् के बीच एक कड़ी जुड़ पाती थी इस प्रकार चेतना के सभी स्तर एकीकृत होकर एक समग्र अंतर्दृष्टि को प्राप्त हो जाते थे।

भारतीय कला का इतिहास प्राचीन भारतीय मनीषा के बोध व उपलब्धि की सृजन—ऊर्जा का द्योतक है। वस्तुतः यह जन के आत्मिक आदरुर्शों तथा मूल्यों के वास्तविकीकरण को प्रस्तुत करता है। तब विविध प्रकार की व विस्तृत कला गतिविधि हाकती थी और विभिन्न काल, दिक् और प्रकाशा के संदर्भ में प्राप्त कलानुभव की रचना होती थी।

प्रो० बिमान बिहारी दास (1943, मूर्तिकार)

“इनका जन्म पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के तमलुक गांव में 1 जनवरी 1943 को

*प्रवक्ता, राजकीय कला महाविद्यालय, चण्डीगढ़

1964 से 1994 तक ये दिल्ली कला महाविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर कार्य रत् रहे एवं 1994 से 2002 तक ये कोलकाता कला महाविद्यालय के प्रधानाचार्य के पद पर रह कर सेवानिवृत्त हुए। इतने सालों की लम्बी यात्रा के दौरान इन्होंने बहुत सारे देशों का भ्रमण व अपनी कला प्रदर्शनियों का आयोजन किया। इन्होंने राष्ट्रीय पुरस्कार सहित काफी सारे राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किए। इन्होंने काफी सारे व्यक्ति चित्र व आदम कद मूर्तिशिल्पों का सृजन किया जो देश व विदेश में इनकी मूर्तिकला के क्षेत्र में इनकी दक्षता को प्रदर्शित करती है। इनको कला क्षेत्र में इनके योगदान के लिए कई राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुए और 2014 में भारत सरकार ने भी इनको पद्मश्री पुरस्कार से नवाजा। इनकी मूर्ति कला के क्षेत्र में लम्बी यात्रा के दौरान एक विस्तृत व नई नई खोज को पाते हैं जो इनकी वर्तमान शुद्ध व परिपक्व स्थिति को प्रदर्शित करती है। इन्होंने अपनी इस लम्बी यात्रा के दौरान तकरीबन सभी माध्यमों में कार्य किया। इनके शिल्प में हम न सिर्फ मूर्त आकृतियों में ही इनकी दक्षता पाते हैं वरन् अमूर्तकला में भी हम बारीक मूवमेंट व स्पष्ट भावों को प्रभावशाली ढंग से पाते हैं। इनके मूर्तिशिल्पों में हम बारीक से बारीक घुमाव व रेखाओं की गति को खोखल (Concave) और ऊभाड़ (Convex) के द्वारा एक शक्तिमान (Dynamic) गति को पाते हैं जो इनको समकालीन मूर्तिकारों में उच्च स्थान दिलाता है।

“आप मूर्तिकला के क्षेत्र में कलात्मकता लाने के लिए किस चीज से सबसे ज्यादा प्रेरित हुए ?—बिमान दास— “मेरे प्रारम्भिक जीवन, शिक्षण और भारतीय लोक मूर्तिकला के साथ गहरे जुड़ाव और गहरे शास्त्रीय व लोक संगीत का लगाव मुझे मेरे कलात्मकता को बनाने में बहुत सहाय्यता रहा।

आप ने अपनी कला शिक्षा कहाँ से प्राप्त की और किन—किन विषयों पर आपने कार्य किया ?—

बिमान दास— मैंने अपनी कला शिक्षा राजकीय कला महाविद्यालय से प्राप्त की और मेरे छात्र दिनों के दौरान मैं कोलकाता कला महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री चिन्तामणीकर के समर्पक में आया जिनको मैं अपना गुरु भी मानता हूँ। जिन्होंने मुझे स्वतंत्र आकारों की तरफ झुकाया जिसकी वजह से बहुत सारी दिशाएँ समाहित हुईं। मैं हमेशा ही माध्यमों और आकारों के अनुसंधान में जुड़ा रहा हूँ। मैं जीवन को प्रेम करता हूँ तथा जोश के साथ व्यतीत करता हूँ, मैं लगातार मेरे पसंदीदा विषयों पर कार्य करता रहा हूँ जैसे देवी, मिथुना, नायक नाईका, कृष्ण कल्ट आदि।

आप अपने कला जीवन व्रत के विषय में कुछ बतायें ?—

बिमान दास— मैं अपने जीवन व्रत का इतिहास अपने जीवन की उस समय की यादों के साथ करता हूँ जिसने मुझे आगे कला, सौंदर्यशास्त्र व विश्वव्यापी संस्कृति को जानने व मेरे विचारों के लिए शुरुआति प्रेरणा की तरह थी, मेरा जन्म पश्चिम बंगाल के तमलुक गांव में हुआ जो संस्कृतिक रूप से बहुत सुदृढ़ था, वहा प्राचीन समय के टेराकोटा,

पत्थर की कलाकृतियाँ स्मारक व कलात्मक वस्तुएँ जहाँ-तहाँ पाई जाती थी। जिसमें कला के प्रति तत्वों की प्राथमिक प्रेरणा मेरे बाद के कला जीवन के एक पूर्वाभ्यास की तरह थी।

मेरा कला क्षेत्र में अध्ययन कला महा विद्यालय कलकत्ता जहाँ बंगाल कला आदोलन की शुरुआत हुई आकर वहाँ अन्तराष्ट्रीय ख्याति के लोग जुड़े थे जैसे रविन्द्रनाथ टैगोर, अवनिन्द्र नाथ टैगोर, जामिनी राय। वहाँ मैंने चिंतामणी कर जो खुद अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मूर्तिकार थे के मार्गदर्शन में अपना डिप्लोमा किया। इस दौरान गुरुदेव ने मुझे स्वतंत्र आकारों के साथ अपने विचारों को व्यक्त करना सिखाया। उसके बाद मैं बंगाल टेराकोटा मंदिर, लकड़ी व पत्थर उत्कीर्ण पर एक शोध कार्य किया। शोध के दौरान मैंने कई सारे प्रयोग किये जैसे सरलीकृत, जटिल व पूर्ववासी आकार व क्रियामी विचारों के साथ तकरीबन ढाई वर्षों तक गुरु चिंतामणी कर के दिशा निर्देशन में मैंने उत्तकीर्ण के तरीके व पौलिस पर गहन अध्ययन किया तथा काचमय टेराकोटा में भी बहुत प्रयोग किये।

शोधकार्य के समाप्त होने के पश्चात् मैं दिल्ली आ गया। दिल्ली कला महाविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर कार्य करने हेतु। मैंने अपने व्यवसायिक जीवन की भी शुरुआत की बहुत सारे प्रयोगों व कला प्रदर्शनियों में प्रतिभागी बन कर जिसके लिए मुझे 1972 में ललित कला का राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। अध्यापन के तीन बर्षों के पश्चात् मुझे आगे अध्ययन हेतु ब्रिटिश कोनसील छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इस एक साल के दौरान मैंने प्रोफेसर जैफरी सैनडली के मार्गदर्शन में लास्ट वेक्स पद्धति सीखा व अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ब्रिटिश मूर्तिकार हेनरी मेर के साथ काम करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। मेरे कला जीवन की वास्तविक यात्रा तक शुरु हुई जब मुझे बहुमूल्य सलाह व मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। भारतीय शास्त्रीय विषयों को लेकर समायिक व आधुनिक भावनाओं के साथ प्रयोग करने का, विचार की नई क्रान्ति के साथ मैंने बहुत सारी पारम्परिक भारतीय आकारों का समसामयिक आकारों के साथ समिश्रण किया जैसे घनवाद, अतिथथार्थवाद और अमूर्त आदि। तब मैंने शिवलिङ्गम्, बुद्धा, जीवन दर्शन, नाईका व मिथुन श्रृंखला पर इंग्लैंड में कला महाविद्यालय में काम किया जिसको बहुत सराहा गया तथा बाद में वे राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय ने संग्रहित की। मैंने अपने कला जीवन में इंग्लैंड, पैरिस, इटली स्कॉटलैण्ड कला संग्रहालयों का भ्रमण किया जो मेरे जीवन के सबसे अद्भुत पलों में से हैं। इसके बाद मेरा पूरा जीवन भारतीय पारम्परिक आकारों के आधुनिकीकरण की खोज में लगा रहा। सौंदर्य शास्त्रात्मक रूप में इसमें आकारों का सरलीकरण भारतीय पारम्परिक मूलभावों का अमूर्तकरण और समसामयिक संकेतों का प्रयोग शामिल था। मेरे पंसदीदा विषयों में मिथुना, देवी नायिका कृष्णाकल्ट आदि हैं यह सभी विषय भारतीय पारम्परिक कला मैं बहुत प्रसिद्ध हैं जिनको मैं समसामयिक रूप में अभिव्यक्त करत हूँ। इनके देवी व नायिका श्रृंखला के विषय मैं बहुत खुश हूँ कि बिमानदास ने समसामयिक भारतीय लोकाचार के द्वारा पारम्परिक भारतीय विचारों की अभिव्यक्त किया। इनकी देवी व नायिका श्रृंखला के मूर्तिशिल्प हमें प्राम्परिक शास्त्रीय

अगघाश को मोटिफ की तरह अपने संयोजनो में प्रयोग किया जो कि इनकी शास्त्रीय कला की समझ को प्रदर्शित करता है।

क्या आप को लगता है कि आपके विषय वस्तु शास्त्रीय है और जिन पर काफी काम पहले भी हो चुका है ?—

बिमान दास— इसमें कोई संदेह नहीं की ये विषय शास्त्रीय है परन्तु मैं इनको मेरी लचीली भाषा के द्वारा आकार देता हूँ मैं विश्वास करता हूँ कि ये भावनात्मक रूप से भारतीय व समकालीन हैं। मैं मेरे मूर्तिशिल्पो को एक अच्छे शिल्प की तरह नहीं देखता हूँ। मेरे लिए ये मेरा व्यक्तिगत योगदान हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड पर मनुष्यों की जरूरत को पूरा करने के लिए।

श्रृंगारिक अभिव्यक्ति से आप क्या समझते हैं और यह कितना जरूरी है ?—

बिमान दास— मेरे अनुसार प्रेम यह एक भावना है हमारे मन की, प्रेम ताकत है। प्रेम मानवीय दूरियों को कम करने का एक रास्ता है। प्रेम प्रवृत्ति प्राणी की मूल प्रवृत्तियों में सबसे सशक्त प्रकृति ही प्रेम है जो कि सारी सृष्टि को बांधे हुए है, प्रेम का अर्थ है, आकर्षण! प्रेम चुम्बकीय सिद्धांत के आधार पर काम करता है। यह आकर्षण ही सृष्टि का आधार है। सिर्फ मनुष्य ही नहीं बल्कि सभी प्राणियों का मुख्य आकर्षण विपरीत यौन होता है। यह प्रकृति का



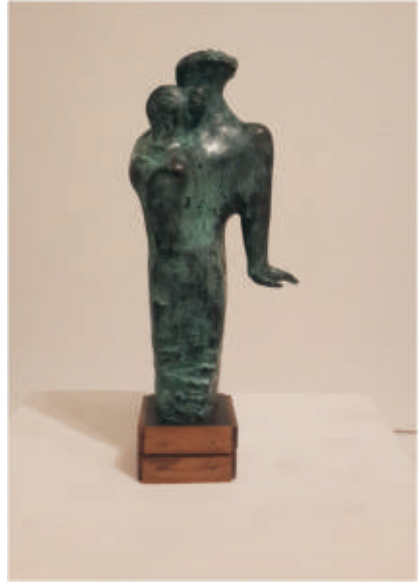
चित्र सं -1 जीवन का

प्रवृत्तियों में सबसे सशक्त प्रकृति ही प्रेम है जो कि सारी सृष्टि को बांधे हुए है, प्रेम का अर्थ है, आकर्षण! प्रेम चुम्बकीय सिद्धांत के आधार पर काम करता है। यह आकर्षण ही सृष्टि का आधार है। सिर्फ मनुष्य ही नहीं बल्कि सभी प्राणियों का मुख्य आकर्षण विपरीत यौन होता है। यह प्रकृति का

नियम सा है, क्योंकि इस आकर्षण के बिना सृष्टि सम्भव नहीं। इस आकर्षण और एक दूसरे के प्रति खिंचाव को ही प्रेम कहा जा सकता है। विपरीत लिंग के लोगों के सम्बन्ध में वासना भी शामिल होती है, जो कि प्रेम का ही हिस्सा कहा जा सकता है, क्योंकि वे एक

दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और प्रेम क्रीड़ा करते हैं। यह आकर्षण ही सृष्टि का आधार है।”

जीवन का दर्शन (चित्र संख्या-1), मूर्तिशिल्प को देखकर ऐसा लगता है कि यह शिल्प शास्त्रीय समय का हो। इस शिल्प में इन्होंने बहुत ही सहज ढंग से शास्त्रीय प्रभाव अथवा भारतीयता को रखते हुए समकालीन भाषा में सृजित किया है। इस शिल्प के अन्दर रेखाओं की गति व आकृतियों की मुद्रा के द्वारा जीवन की फिलासफी को बहुत ही सहज ढंग से सृजित किया है। स्त्री की आकृति को अपनी सुंदरता को व्यक्त करते हुए बहुत कोमलता से प्रदर्शित किया है एवं उसके एक हाथ में फूल बनाया है जो प्रेम की तीव्रता को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करता है। एवं पुरुष को बासुरी बजाते बनाया है जो प्रेम से भरपूर जीवन के सुरीलेपन को प्रतीकात्मक रूप से प्रदर्शित करता है एवं इस सृष्टि के आधार को व्यक्त करता है। यह शिल्प कास्य में सृजित है एवं इस शिल्प में भारतीय मूर्तिशिल्प की ही तरह अलंकरण का प्रयोग किया गया है जो सुन्दरता और सौम्यता को भावनात्मक रूप से अभिव्यक्त करता है।



चित्र सं -2 मिथुना युगल

जीवन का दर्शन (चित्र संख्या-2) इसी विषय पर एक और मूर्ति जो सफेद सोम्य संगमरमर में सृजित की है इस शिल्प में स्त्री व पुरुष की आकृतियों को बड़ी से एक दूसरे में सम्माहित बनाया है। आकार मूर्त न होकर अमूर्त रखा गया है इसके बावजूद भी यह शिल्प अपने भाव को दर्शक तक पहुंचाने में सफल होता है। शिल्प के बीच एक खाली स्थान रखा गया है जो इस शिल्प में चाक्षु सौन्दर्य व गति को बढ़ाता है। इस शिल्प पर पश्चिमी प्रभाव दिखता है परन्तु फिर भी यह भारतीयता को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार भारतीय कला एक आदर्श अनुपात को अभिव्यक्त न करते हुए उसके आंतरिक सुन्दरता व भाव कला को अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार यह शिल्प भी अमूर्त होने के पश्चात् भी स्त्री व पुरुष के प्रेममयी सम्बन्ध के आंतरिक भाव को बहुत ही प्रभावशाली रूप से व्यक्त करता है। इस शिल्प के बीच में खोखला ही दोनों आकारों में भेद को प्रकट करता है एवं आखों को शिल्प में विचरने में मदद करता है।”

मथुना युगल—(चित्र संख्या-3) यह शिल्प इन्होंने 1996 में बनाया, एवं इस शिल्प का माध्यम इनका सबसे ज्यादा पंसदीदा कास्य है, यह शिल्प पूर्णतः भारतीय शास्त्रीय

मूर्तिशिल्प की विशेषता लिए हुए है जिसमें कलाकार ने एक युगल को बनाया जो पूर्णतः सरलीकृत रूप में है जिसमें शारीरिक बारीकियाँ बिल्कुल भी प्रयोग नहीं की गई परन्तु फिर भी यह शिल्प पूरी तरह अनुपात में लगता है। शिल्प में दोनों के चहरे की मुद्रा को देखकर यह एकदम स्पष्ट होता है कि ये चुम्बनरत् मुद्रा में हैं, पुरुष आकृति का एक हाथ नीचे की तरफ दिखाया है जैसे मानो वह सहारा लेने का प्रयास कर रहा हो, तथा दूसरे हाथ का मात्र आभास दिया गया जो स्त्री आकृति का आलिंगन में लिए हुए है। स्त्री आकृति को पूर्णतः पुरुष आकृति समाये हुआ बनाया है एवं उसके सिर्फ वक्षस्थल का ही आभास बहुत स्वेदनशीलता के साथ दिया गया है जिस कारण से यह शिल्प श्रृंगारिक संवेदना को बहुत प्रभावशाली रूप से दर्शक के भावों में शामिल करता है। शिल्प पर गहरा हरे रंग का पातीना किया गया है जो इसको प्राचीन कालीन होने का आभास करता है। कलाकार ने शारीरिक बारीकियों को छोड़ कर सिर्फ प्रेम की अनुभूति व अहसास को पूर्णतः शिल्प में अभिव्यक्त करने में सफलता पाई है जो इनकी दक्षता को प्रमाणित करता है। शिल्प में चाक्षु सौन्दर्य व गति इस शिल्प पर पश्चिमी प्रभाव का दिखता है जो इन्हे अपने गुरु श्री चिंतामणीकर के कारण प्राप्त हुआ परन्तु फिर भी यह भारतीयता को नहीं छोड़ता।

नाइका —(चित्र संख्या—11) — यह शिल्प भी कास्य माध्यम में बना है और भारतीय मूर्तिकला में प्रदर्शित शालभंजिका का आधुनिक विवरण है, जिसमें बिमान दास ने स्त्री आकृति को बहुत कामुक रूप प्रदान किया है, स्त्री आकृति का दाया हाथ उसके सिर के ऊपर इस प्रकार रखा गया है जिससे उसे वक्षस्थल पूरी तरह सामने दिख सके, एवं वक्षस्थलो को काफी बड़ा व सुडोल बनाया गया है जिस कारण स्त्री आकृति बहुत ही संवेदनशील व कामुक दिखती है। सिर पर पत्तियाँ व फलों को बनाया गया है, जो उत्पत्ति का सांकेतिक प्रदर्शन है। स्त्री के पैरों को मोड़ कर बनाया है तथा एक हाथ को ऊपर उठे घुटने के ऊपर रखा बनाया है तथा

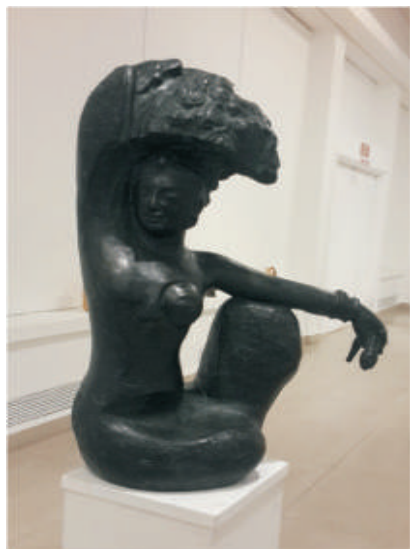


चित्र सं —3 जीवन का

उस हाथ में फूल भी दिखाया है। आकृति का चेहरा सामने देखते हुए बनाया है मानो व अपने प्रियतम से मिलन की ज्वाला में उसका इंतजार कर रही हो। पूरे शिल्प की शैली भारतीय व युरोपियन शैली का समिश्रण दिखती है और रेखाओं के द्वारा शिल्प में गति प्रदान की गई हैं, शिल्प में गहरे हरे व काले रंग का पातीना किया गया है। इसमें कोई भी दो राय नहीं की यह शिल्प भारतीय शास्त्रीय मूर्तिकला के सारे गुण लिए हुए है खास तौर पर स्त्री शरीर की लयात्मकता जो भारतीय मूर्तिकला का एक महत्वपूर्ण तत्व था।

मिथुन युगल—(चित्र संख्या—11) यह शिल्प भी कास्य में बनी है और इस शिल्प पर भी

इनके गुरु श्री चिंतामणी कर का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह शिल्प भी अमूर्त शैली में बना है जिसमें स्त्री व पुरुष आकृति को आलिंगनबद्ध व चुम्बनरत् मुद्रा में सृजित किया, स्त्री आकृति में उसके वक्षस्थलो को सामने की तरफ बनाया है जिससे कि वे दर्शक को पूर्ण रूप में दिख सके। दोनों आकारों को अलग-अलग दिखाने के लिए बीच में खोखला बनाया गया है। जो शिल्प को गति व लय प्रदान करता है। पुरुष आकृति के एक हाथ का आभास स्त्री के गर्दन के पीछे दिखाया है मानो वह चुम्बन की उत्तेजना में उसे बड़ी ताव्रता से अपनी ओर खींच रहा है। शिल्प में रेखाओं के द्वारा घुमाव व नाजुकता को लाया गया है। पूरे शिल्प को देकर उसे चमकीला रखा गया है। जब उनसे इस विषय में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि यह जानबूझ कर रखा है क्योंकि यह चमक युगल की उत्तेजना का सांकेतिक प्रदर्शन है। गले में आभूषणों की जगह टेक्सचर के द्वारा अलंकरण का आभास दिया गया है। शिल्प में कामुकता का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने के बावजूद यह शिल्प श्रृंगारिक अभिव्यक्ति को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करता है।



चित्र सं -4 नाइका

नायक— नाइका— यह शिल्प भी कांस्य में बना है जिसमें उन्होंने अध्यात्मिक प्रेम को प्रदर्शित किया है, यह शिल्प भी सरलीकृत शैली में है जिसमें राधा व कृष्ण के प्रेम का काविवरण दर्शक रूप में किया है, दोनों के चेहरों की मुद्राओं को चुम्बनरत् बनाया है दोनों के सिर के पीछे हेलो भी बनाया है जो इस बात को स्पष्ट करता है कि ये राधा व कृष्ण ही हैं। दोनों के हाथों एक ही बांसुरी को पकड़े बनाया है। शरीर के नीचे का भाग एक ही आकार में बनाया है जिसको एक गहरे स्थान के द्वारा दो आकारों को स्पष्ट किया गया है। रेखाओं के द्वारा आकार में घुमाव व लय को लाया गया है पीछे सांपों की आकृति द्वारा शेषनाग को बनाया है जो दोनों आकारों के ऊपर छाते रूप में बनाया है। पूरे शिल्प में कामुकता का कोई स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु फिर भी दोनों बीच श्रृंगारिक अभिव्यक्ति को अभिव्यक्त करता है। शिल्प को पुरातन दिखाने के लिए गहरे हरे रंग का पातीना किया गया है।



चित्र सं - 5 नाइका

नाइका— यह शिल्प इन्होंने 2005 में बनाया और यह इनके पंसदीदा विषय पर आधारित है जो इन्होंने भारतीय शास्त्रीय मूर्तिशिल्प में प्रदर्शित शिल्प शालभंजिका का आधुनिक व समसमयिक अभिव्यक्ति है। यह शिल्प कास्य में बनी है, एवं शिल्प पूरी तरह अमूर्त शैली में बनी है जिसमें बिमान दास ने स्त्री आकृति को पूर्ण रूप में न बना कर सिर्फ उसका बायां कन्धा व बायाँ हाथ बनाया है व बाया वक्षस्थल को बहुत सुडोल व कामुकता के साथ बनाया है तथा को वक्षस्थल का ओर मोड़ कर उसमें एक फूल को पकड़ाया गया है, जो उसकी नाजुक व तीव्र उत्तेजना को अभिव्यक्त करता है। शिल्प में शास्त्रीय शिल्प क तरह आभूषणों का प्रयोग किया गया है। छाया व प्रकाश का प्रभाव लाने के लिए शिल्प में टेक्सचर का प्रयोग किया गया है। उनके अनुसार चहरे की जगह उन्होंने ऊपर की ओर बढते मोटे टेक्सचर का प्रयोग कामुकता की तीव्रता का सांकेतिक व भावायुक्त अभिव्यक्ति है। शिल्प का बाहरी आकार अण्डाकार रूप में रखा गया है जो जननक्षमता का प्रतीक है एवं उसकी बाहरी सतह को पूर्णतः सपाट व चिकना रखा गया है, शिल्प के अन्दर के हिस्से में हरे रंग का पातीना रखा गया है।



चित्र सं — 6 नाइका

श्री अरविन्द : राजनैतिक क्रान्ति से रूपान्तरण क्रान्ति की ओर

डॉ. किरण सूद*

श्रीमती कमलावती सकलानी**

महान योगी स्वतन्त्रता सेनानी, श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 में कलकत्ता में पूर्णरूपेण पाश्चात्य माहौल में हुआ। श्री अरविन्द के पिता पाश्चात्य संस्कृति के भक्त थे, अतः उन्होंने श्री अरविन्द को शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड भेजा। परन्तु यह नियति की विडम्बना थी कि श्री अरविन्द को महज 11 वर्ष की अवस्था में यह अनुभव हुआ कि विश्व में अद्भुत क्रान्ति होने वाली है और उनका इसमें भाग लेना दैवनिर्दिष्ट है।

“ग्यारह (11) वर्ष की अवस्था में ही श्री अरविन्द को इस बात का तीव्र अनुभव हो गया था कि जगत में एक सार्वभौम उथल-पुथल और महान क्रान्तिकारी परिवर्तनों का समय आ रहा है, और स्वयं उनका भी उसमें भाग लेना दैव निर्दिष्ट है।”⁽¹⁾

यही अनुभव श्री अरविन्द को हिन्दुस्तान ले आये। भारत में बड़ौदा के महाराज के यहाँ कुछ समय कार्य करने के पश्चात वे भारतीय राजनीति में आ गये व 1902 से 1910 तक वे भारतीय राजनीति में सक्रिय रहे।

श्री अरविन्द का राजनीतिक जीवन

श्री अरविन्द भारतीय राजनीति में सक्रिय रहे। बड़ौदा में रहते हुए श्री अरविन्द ने बंग-विभाजन के दर्द को महसूस किया। अपने प्राचार्य पद की गरिमा बनाये रखने के लिए प्रारम्भिक वर्षों में वह गुप्त-चुप तरीके से राजनैतिक कार्यों को करते रहे। यह समय श्री अरविन्द के राजनैतिक विचारों को विकसित होने के पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता है। सन् 1905 में उन्होंने बड़ौदा कॉलेज की सेवा से त्याग पत्र दे दिया और बंगाल विभाजन का खुलकर विरोध करने का निश्चय किया।

“1906 के बाद जो नवीन जागृति और नया जोश देश में इस छोर से उस छोर तक फैल गया था उसका मूल कारण बंग-भंग था, हालाँकि लार्ड कर्जन के प्रतिगामी शासन के कारण वह जागृति इस बंग-भंग की घटना के पहले से भी भीतर-ही-भीतर गर्भ से बढ़ रही थी। पुण्य-नगरी काशी में जब काँग्रेस का 21 वाँ अधिवेशन 1905 ईसवी में हुआ तब उसमें बंग-भंग पर विधिवत विरोध प्रदर्शित किया गया और कहा गया कि वह रद्द कर दिया जाय”⁽²⁾

श्री अरविन्द अब तक जो भी कार्य कर रहे थे पर्दे के पीछे से करते रहे, अब वह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में आये। श्री अरविन्द भले ही अपने लेख पर्दे के पीछे से लिखते थे

* विभागाध्यक्षा, राजनीति विज्ञान विभाग, एम.के.पी. (पी.जी.) कालेज, देहरादून

**शोधार्थी, हे०न० ब० गढ़वाल केन्द्रीय वि० वि० श्रीनगर, गढ़वाल

परन्तु जनता व अंग्रेज सरकार जान चुकी थी कि ये सब लेख श्री अरविन्द लिख रहे हैं। श्री अरविन्द इस बात को जानते थे इसलिए उन्होंने क्रांति संबंधी कार्य को अंजाम देने के लिए यतीन नामक बंगाली लड़के को उत्तर प्रदेश का बताकर बंगालियों के क्रांतिकारी समूह में भर्ती कराया, यतीन को उत्तर प्रदेश का बताने के पीछे यह कारण था कि उस समय बंगालियों का फौज में भर्ती होना कठिन था।

“श्री अरविन्द और उनके साथियों ने इसी समय बंगाल में क्रांति दल के पहले छः केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया।”⁽³⁾

अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के लिए अपने साथियों को तैयार किया। श्री अरविन्द काँग्रेस में शामिल हो गये। जल्द ही उन्हें महसूस होने लगा कि काँग्रेस की नीति एवं कार्यक्रम स्पष्ट नहीं है।

श्री अरविन्द को नरम पंथ काँग्रेसियों की अपेक्षा तिलक जैसे गरम दल के नेता अधिक प्रभावशाली लगे, काँग्रेस के इतिहास में 1907 एवं 1908 ऐतिहासिक आन्तरिक संघर्ष का समय था। नरमपंथी व गरम दल के नेताओं के बीच मतभेद था। नवस्थापित राष्ट्र दल के लिए स्वराज सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। इसी समय ब्रिटिश व विदेशी वस्तुओं, ब्रिटिश न्यायालयों का बहिष्कार किया गया। देशी विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों की स्थापना की गई। यही समय था जब सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रवादी जागृति की लहर दौड़ गयी।

“1906 में कलकत्ता में हुये भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में नरमपंथी नेताओं तथा लाल-बाल-पाल व श्री अरविन्द जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के बीच संघर्ष हुआ। राष्ट्रवादियों के लिये पूर्ण स्वराज्य ही लक्ष्य था परन्तु नरमपंथी नेता सुधारों की एक धीमी प्रक्रिया के माध्यम से एक प्रकार के उपनिवेशी स्वशासन की आशा करते थे। पंडित मदन मोहन मालवीय के शब्दों में “वे (लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, श्री बिपिन चन्द्र पाल और श्री अरविन्द घोष और मैं मिले और विषय में चर्चा हुई” और दोनों गुटों में समझौता हुआ।

परन्तु नरमपंथियों के गढ़ सूरत में हुए 1907 के काँग्रेस अधिवेशन में बात कुछ और थी। यहाँ नरमपंथियों ने कलकत्ता के 1906 के समझौते को मानने से इन्कार कर दिया इसी से काँग्रेस का विभाजन हुआ। और फिर नरमपंथियों और राष्ट्रवादियों ने अलग-अलग सम्मेलन किये। श्री अरविन्द राष्ट्रवादी सम्मेलन के सभापति थे।

ये विभाजन एक दशक से कुछ अधिक समय तक चला, और कुछ समय तक काँग्रेस प्रायः निष्क्रिय रही। नरमपंथी अधिवेशन सफल नहीं हो पाए और कुछ ही दिनों में यह गुट समाप्त हो गया। इस प्रकार वह राष्ट्रवादी काँग्रेस ही थी जो इस दमनकारी समय में भी टिकी रही और बाद में महात्मा गाँधी ने इसका ही नेतृत्व ब्रिटिश तानाशाही के विरुद्ध किया।”⁽⁴⁾

तत्पश्चात् भारत में स्वजागृति का कार्य होने लगा। जनता स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग व देशी शिक्षा पर जोर देने लगी।

“1907 में राष्ट्र ने केवल प्रस्ताव पास करना छोड़कर स्वदेशी बहिष्कार और राष्ट्रीय—शिक्षा के ठोस क्रियात्मक प्रस्तावों पर जोरों से अमल भी किया, यहाँ तक कि बंगाल, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त, पंजाब व आन्ध्र में राष्ट्रीय स्कूलों और विश्व—विद्यालयों का जन्म बड़े वेग से हो रहा था वहाँ स्वदेशी का आन्दोलन सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। हाथ के कपड़े का उद्योग एक बार फिर पुनर्जीवित हो गया। इस बार करधे में ‘फटका शाल’ भी इस्तेमाल किया गया। इस उद्योग को उत्तेजना देने के लिए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन भी किया गया। सम्पूर्ण वातावरण में ही एक नवीन जीवन का संचार हो गया।”⁽⁵⁾

श्री अरविन्द को आशा थी कि राष्ट्रवादी लोग काँग्रेस पर कब्जा कर लेंगे। सन् 1907 में संघर्ष उभर कर सामने आ गया, इसी समय श्री अरविन्द ‘वन्देमातरम्’ के कार्यकारी सम्पादक के रूप में क्रांतिकारी लेख लिख रहे थे। वन्देमातरम् पढ़ने से स्वतंत्रता संघर्ष की गति तेज हो रही थी।

सन् 1907 में ही श्री अरविन्द के विरुद्ध राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। श्री अरविन्द इसी समय क्रांतिकारी नेता के रूप में स्थापित हुए। ठीक इसी वर्ष श्री अरविन्द ने सूरत में राष्ट्रवादी सम्मेलन की अध्यक्षता की। काँग्रेस का दो भागों में विभाजन हो गया। राष्ट्रवादी विचारधारा वाले लोग गरमदल के सदस्य थे। श्री अरविन्द इस समूह के नेतृत्व समूह में मुख्य हिस्सा थे। उनके क्रांतिकारी विचारों से अंग्रेज सरकार विचलित हो रही थी।

मई 1908 में श्री अरविन्द को क्रांतिकारी गतिविधि के आरोप में गिरफ्तार किया गया तथा ठोस सबूत न मिलने के कारण वे जेल से सम्मान सहित वापस आ गये।

परन्तु इन्हीं दिनों श्री अरविन्द ने अपने हाथ में बंगाली दैनिक नवशक्ति का कार्यभार अपने हाथ में ले लिया, और अपने स्कॉट्स लेन वाले किराये के मकान से जहाँ वे अपनी पत्नी व बहन के साथ रहते थे, इस पत्र के कमरे में चले आये। वहाँ नया काम कर सकने से भी पहले एक दिन बहुत सवरे जबकि वे अभी सोये हुए थे, पुलिस रिवाल्वर हाथ में लेकर जीने पर चढ़ गई और श्री अरविन्द को गिरफ्तार कर लिया।

पहले उन्हें पुलिस स्टेशन तथा बाद में अलीपुर के सत्र न्यायालय में उन पर मुकदमा चलाया गया। उसके बाद पहले उन्हें एकान्तवास में रखा गया, परन्तु फिर वहाँ से बदलकर जेल के एक बड़े विभाग में भेज दिया गया जहाँ उन्हें उस मुकदमे के अन्य कैदियों के साथ रखा गया।

श्री अरविन्द ने जेल में अपना सारा समय गीता और उपनिषदों के स्वाध्याय गम्भीर ध्यान व योगाभ्यास में लगाया।

सी.आर. दास जो उनके एक राष्ट्रवादी सहयोगी और एक विख्यात वकील थे अपनी भरी—पूरी वकालत को एक तरफ रखकर तन—मन से श्री अरविन्द की पैरवी में जुट गये और महीनों इसी कार्य में लगे रहे। श्री अरविन्द ने मुकदमे का सारा भार पूरी तरह से उन पर छोड़ दिया और इसकी चिन्ता नहीं की। चिन्ता न करने का कारण था कि उन्हें अन्दर से प्रभु ने आश्वासन दिया कि तुम छूट जाओगे।

श्री अरविन्द ने अपने विषय में पुस्तक में इस संकेत को स्पष्ट रूप से लिखा —

“उन्हें अन्दर से आश्वासन मिल चुका था और वे जानते थे कि वे छूट जायेंगे”⁽⁶⁾

‘अलीपुर जेल से छूटने के बाद श्री अरविन्द का पहला महत्वपूर्ण भाषण 30 मई 1909 को उत्तरपाड़ा में हुआ था। इसमें उन्होंने अपने जेल जीवन का आध्यात्मिक अनुभव सुनाया और साथ ही देश को सच्ची राष्ट्रीयता का संदेश दिया। इसमें उन्होंने बताया है कि सच्चा हिन्दु धर्म, सच्चा सनातन धर्म क्या है और आज के संसार को उसकी क्यों जरूरत है।’⁽⁶⁾

उनका यह भाषण उनके जीवन में एक नये मोड़ का परिचय देता है। उन्होंने कहा — “जब मुझे आपकी ‘सभा’ के इस वार्षिक अधिवेशन में बोलने के लिए कहा गया, तो मैंने यही सोचा था कि आज के लिए जो विषय चुना गया है उसी पर अर्थात् हिन्दु धर्म पर कुछ कहूँगा। मैं नहीं जानता कि उस इच्छा को मैं पूरा कर सकूँगा या नहीं, क्योंकि जैसे ही मैं यहाँ आकर बैठा मेरे मन में एक संदेश आया और यह संदेश मुझे आपको और सारे भारत को राष्ट्र को सुनाया है। यह वाणी मुझे पहले पहल जेल में सुनायी दी थी और उसे अपने देशवासियों को सुनाने के लिए मैं जेल से बाहर आया हूँ।”⁽⁷⁾

श्री अरविन्द जब जेल से वापस आये तो काँग्रेस संकट में थी क्योंकि अधिकांश नेता जेल में थे या देश से बाहर चले गये और काँग्रेस के सदस्य बिना नेतृत्व के क्रांतिकारी गतिविधियों में शिथिल हो गये। श्री अरविन्द ने लगभग एक साल तक अकेले अपने दम पर राष्ट्रवादी क्रांति को जीवित रखा। उन्होंने ‘कर्मयोगी’ नामक एक अँग्रेजी साप्ताहिक और ‘धर्म’ नामक एक बंगाली साप्ताहिक को अबाध गति से चलाया। उस समय श्री अरविन्द ने यह महसूस किया कि क्रांति के लिए प्रशिक्षण की जरूरत है। उस समय आम जनता को क्रांति में जोड़ने के लिए होमरूल आन्दोलन को शुरू किया। क्रांतिकारी आन्दोलन के साथ-साथ श्री अरविन्द आध्यात्मिक योग में भी आगे बढ़ रहे थे। दूसरी ओर राष्ट्रीय काँग्रेस की ओर से लगातार दबाव डाला जा रहा था कि वे अध्यक्ष का पद संभाले। परन्तु श्री अरविन्द ने अध्यक्ष पद संभालने में कोई रुचि नहीं दिखाई, उन्होंने क्रांतिकारी लेख लिखकर अँग्रेजों के होश उड़ा दिये।

अंग्रेज श्री अरविन्द को अपने रास्ते में आने वाली सबसे बड़ी बाधा समझने लगे। अतः उन्होंने श्री अरविन्द को रास्ते से हटाने के लिए देशनिकाला देने की तरकीब सोची। परन्तु जल्दी ही यह खबर श्री अरविन्द तक पहुँच गई तथा श्री अरविन्द ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनी तथा उन्हें ऊपर से आदेश हुआ कि भारत आजाद हो जायेगा, तथा तुम पांडिचेरी चले जाओ। इस तरह श्री अरविन्द भारत की स्वतंत्रता के प्रति आश्वस्त होकर पांडिचेरी साधना में चले गये।

“इसी बीच सरकार से अपना पिण्ड छुड़ाने का निश्चय कर लिया क्योंकि वह उन्हें अपनी दमन नीति के सफल हाने में एकमात्र बड़ा बाधक समझती थी। उन्हें देश निकाला देने का निश्चय किया। भगिनी निवेदिता को इस बात का पता चल गया और उन्होंने श्री अरविन्द

को इसकी सूचना देते हुए उनसे कहा कि वे ब्रिटिश भारत से बाहर कहीं चले जायें और वहीं से काम करें। इस पर श्री अरविन्द ने कर्मयोगिन में अपने हस्ताक्षरों सहित एक लेख प्रकाशित करके संतोष माना, जिसमें उन्होंने देश निर्वासन की योजना का उल्लेख किया, और देश के लिए अपनी अंतिम इच्छा और आज्ञा सूचित कर दी। जब श्री अरविन्द ने उसी पत्र में राजनीतिक स्थिति की समालोचना करते हुए अपने हस्ताक्षर सहित एक और लेख प्रकाशित किया तो सरकार को मौका मिल गया। वह लेख काफी नरम स्वर में लिखा गया था और पीछे हाईकोर्ट ने भी उसे विद्रोह पूर्ण मानने से इन्कार कर दिया। रात कर्मयोगिन के कार्यालय में श्री अरविन्द को सूचना मिली कि सरकार कार्यालय की तलाशी लेने और उन्हें गिरफ्तार करने का निश्चय कर चुकी है। जब वे इस पर विचार ही कर रहे थे कि ऐसे समय उन्हें अपने मन में क्या भाव धारण करना चाहिये, सहसा ऊपर से एक आदेश मिला वे फ्रेंच भारत में चन्दन नगर चले जायें। उन्होंने बहन निवेदिता को एक संदेश भेजा कि मेरी अनुपस्थिति में कर्मयोगिन के संपादन का कार्य आप संभाल लें। उस दिन से अपने दो पत्रों के साथ उनका सक्रिय संबंध समाप्त हो गया। उत्तरपाड़ा के कुछ युवक क्रान्तिकारियों ने नौका में उन्हें कलकत्ते पहुँचाया वहाँ से डूप्ले जहाज पर सवार होकर वे 4 अप्रैल 1910 को पांडिचेरी पहुँच गये।⁽⁶⁾

यही अनुभव उन्हें पांडिचेरी में उन्हें आध्यात्मिक जीवन के लिए पहुँचने के बाद भी दिशा देते रहे। अंग्रेज सरकार ने श्री अरविन्द पर कड़ी निगरानी रखी। बार-बार सेवाकर्मी श्री अरविन्द से पूछताछ करने के लिए आते रहे। श्री अरविन्द ने इन्दू नामक समाचार-पत्र में खुला पत्र लिखा व स्पष्ट किया कि श्री अरविन्द पांडिचेरी में राजनीति गतिविधियों में शामिल नहीं हैं। श्री अरविन्द ने इस पत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि वह पूर्णरूप से आध्यात्मिक जीवन में समर्पित हैं। धीरे-धीरे श्री अरविन्द के अभिलेख देश-विदेश तक चर्चा का विषय बन गये और श्री अरविन्द के आध्यात्मिक होने का आधार भी बने। श्री अरविन्द व्यक्तिगत स्तर पर साधना में तल्लीन हो गये व साधना के दौरान ही उन्हें आध्यात्मिक संकेत मिला कि भारत की स्वतंत्रता निश्चित है। यही बात उन्होंने पत्रों के माध्यम से व्यक्त की कि वह भारत की स्वाधीनता के लिए साधना के स्तर पर कार्य कर रहे हैं।

इसी समय श्री अरविन्द ने स्वर्णिम ज्योति धरा पर अवतरित करने के लिए साधना शुरू की— एक राजनैतिक क्रांतिकारी का रूपान्तरण स्वतः ही एक योगी के रूप में स्थापित हो गया।

लगभग 40 वर्ष की साधना के दौरान श्री अरविन्द ने अपने लिए एकाकी जीवन चुना। गिने-चुने साधक ही उनसे सम्पर्क कर सकते थे। अन्य साधकों के साथ श्री अरविन्द ने पत्रों के माध्यम से साधना के विभिन्न आयामों के सम्बन्ध में निर्देश दिये।

यही समय था जब श्री अरविन्द को विश्वास हो गया कि राजनैतिक क्रांति की तरह ही अन्तःकरण के स्तर पर आध्यात्मिक क्रांति सम्भव है।

“श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि व्यावहारिक थी, जो आंतरिक क्रांति द्वारा वाह्य क्रांति लाने में विश्वास रखती है उनकी निश्चित धारणा थी कि मनुष्य को भीतर से बदलना

है। उनकी चेतना का परिवर्तन होना है, और भागवत् शक्ति के संस्पर्श से मानव चेतना का दिव्यीकरण ही सारी प्रकृति का आमूल रूपान्तर कर सकता है”।⁽⁹⁾

श्री अरविन्द की आध्यात्मिकता को किसी भी धर्म की सीमा में बांधना कठिन है। उत्तरपाड़ा भाषण में श्री अरविन्द ने हिन्दु धर्म का उल्लेख किया था, व हिन्दू धर्म की संरक्षण की बात भी की थी। पांडिचेरी प्रवास के दौरान श्री अरविन्द मानव निर्मित सभी सीमाओं को लांघने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। श्री अरविन्द का विश्वास है मनुष्य का मनुष्य में भेद करना किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है। अतः धर्म के आधार पर भी भेदभाव उसी समय खत्म हो जाता है जब हम श्री अरविन्द की दिव्य संकल्पना में विश्वास करते हैं। दिव्य जीवन में श्री अरविन्द ने दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी की तरह रूपान्तरण को क्रमबद्ध किया है। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित रूपान्तरणकारी क्रांति का सिद्धान्त श्री अरविन्द को अन्य दार्शनिकों से भिन्न कोटि में स्थापित करता है। जिस प्रकार श्री अरविन्द राजनैतिक स्तर पर आधी अधूरी क्रांति को अब तक अस्वीकार करते रहे व हमेशा पूर्ण स्वराज की माँग करते रहे उसी प्रकार श्री अरविन्द मानवता में बदलाव की बात करते हुए आधी राह में रुकने को तैयार नहीं हैं।

श्री अरविन्द ने मानव मन की व्याख्या करते हुए कहा कि मनुष्य के अन्दर की चेतना में विश्वास की अपार सम्भावनाएं हैं, जैसे मनुष्य का मन विकासोन्मुख होने पर उच्चतर मन में परिवर्तित हो जाता है, उच्चतर मन साधना के माध्यम से प्रकाशित मन हो जाता है और साधक का प्रकाशित मन स्वतः ही स्फूर्त मन हो जाता है, यहीं से अधिमानसिक मन व अतिमानसिक मन का द्वार खुलता है।

साधारण मानव से अधिमानव हो जाने की यह यात्रा आज भले ही कठिन प्रतीत हो, यह असम्भव नहीं है। चेतना के स्तर पर विकास होने पर मानवीय क्षमता असीम हो जाती है। रामायण के हनुमान की महती व लघिमा सिद्धियों का वर्णन हमने दोहरा-दोहरा कर पढ़ा है। रावण व रावण के पुत्र का ब्रह्मास्त्र का प्रयोग भी अंतस्थल चेतना के विकास का एक चरण है। श्री अरविन्द मांत्रिक या तांत्रिक साधना से अपरिचित नहीं थे फिर भी श्री अरविन्द के द्वारा प्रतिपादित रूपान्तरण क्रांति मंत्र-तंत्र की सीमा में आबद्ध (कैद) नहीं हैं।

श्री अरविन्द की रूपान्तरण क्रांति शान्त मन की वह स्थिति है जिसे श्रीमद्भगवद् गीता में समता योग कहा गया है।

समता योग प्राणी मात्र में यहाँ तक कि जड़ में भी परम ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करता है, इसलिए ऐसा यौगिक मन घृणा द्वेष से परे हो जाता है और समस्त जड़ चेतन प्रेम का विस्तार करता है।

श्री अरविन्द की रूपान्तरण क्रांति:-

श्री अरविन्द अपने राजनीतिक कार्यों को जब पूरा कर चुके, और उन्हें ऊपर से

भारत की स्वतन्त्रता का आदेश मिल गया तो वे चन्दन नगर चले गये। अपने आध्यात्मिक अनुभवों से उन्हें ईश्वर पर अटूट विश्वास हो गया, तथा उन्होंने मानव जाति के उद्धार के लिए धरती पर अतिमानसिक सत्ता लाने के लिए कार्य किया और वह कार्य योग है। योग के द्वारा ही वे रूपान्तरण क्रांति को पृथ्वी पर लाये।

रूपान्तरण क्रांति:-

श्री अरविन्द ने वैश्विक स्तर पर परिवर्तन का स्वप्न देखते हुए कहा, “केवल मनुष्य में “एक परम दिव्य चेतना है। हम इसी दिव्य चेतना को भौतिक जीवन में प्रकट करना चाहते हैं।”

श्री माँ ने इस रूपान्तरण प्रक्रिया को घटित होते हुए देखा और मानव जाति को अभयदान दिया। उन्होंने कहा, “लक्ष्य यह नहीं है कि हम अपने आपको दिव्य चेतना में खो दें। लक्ष्य है कि हम दिव्य चेतना को भौतिक में प्रवेश करने और उसका रूपान्तरण करने दें।”⁽¹⁰⁾

रूपान्तरण क्रांति के स्वरूप को श्री माँ ने सहज रूप से स्पष्ट किया, “रूपान्तरण ऐसा परिवर्तन है जिसके द्वारा सत्ता के सभी तत्व और सभी गतिविधियाँ अतिमानसिक सत्य को प्रकट करने के लिए तैयार हो जाती है।”⁽¹¹⁾

रूपान्तरण क्रांति:-

रूपान्तरण क्रांति अन्य क्रान्तियों से भिन्न है। श्री अरविन्द द्वारा लाई गई रूपान्तरण क्रांति मनुष्यों के अन्दर परिवर्तन है। श्री अरविन्द की रूपान्तरण क्रांति अन्य ऋषियों से सर्वथा भिन्न है क्योंकि श्री अरविन्द से पहले के ऋषियों व विद्वानों ने संसार को मिथ्या माना है, लेकिन श्री अरविन्द ने संसार को ब्रह्म माना है व मनुष्य योनि को मुक्ति का द्वार माना है। श्री अरविन्द का दर्शन वैज्ञानिक आधार पर सटीक बैठता है, क्योंकि श्री अरविन्द का कथन है कि ‘जब बन्दर का विकास मनुष्य के रूप में हो सकता है, तो जड़ मनुष्य का अतिमानसिक मनुष्य में क्यों नहीं।’

रूपान्तरण क्रांति का अर्थ:-

श्री अरविन्द के मतानुसार रूपान्तरण क्रांति का अर्थ है ‘मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का परिवर्तन।’

हमारी जो भौतिक साधनों की सीमाएं हैं उनको पार करके प्राण, मन और अतिमानस की उन तथ्यों में जाँच करके जो उनके स्वभाव के अनुकूल हैं। स्वयं में धारण करना है, अधीनस्थ गतिविधियों में, जिनके द्वारा अपने को जड़ से जोड़ते हैं, सभी मानव उच्चतर ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए हमें अपने को अन्तस्थल की चेतना को विकसित करना है।

संसार में मनुष्य कितनी ही भौतिक प्रगति कर दे, परन्तु उसके सामने मृत्यु का भय हमेशा बना रहता है, वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह मृत्यु को नहीं टाल सकता।

‘हमारा भविष्य क्या होगा!’ यह वृहत्तर प्रश्न मानवता के साथ हमेशा ही खड़ा रहा है। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए अधिकांश लोग निराशावादी हो जाते हैं और यहाँ तक मानने लग जाते हैं कि हम आत्म विनाश के कगार पर हैं। जबकि श्री अरविन्द सदैव आशावादी रहे हैं, उनका विश्वास है कि मनुष्यता विश्व एकता की ओर बढ़ रही है। वह मानव समाज में विकास के अनुक्रम को तार्किक दृष्टि से देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हम आध्यात्मिक युग की ओर बढ़ रहे हैं।

मानवीय समाज निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। बहुत सी समाज की इकाईयाँ विकास की ओर अग्रसरित हो रही हैं। वैयक्तिक स्तर पर हो रही चेतना के रूपान्तरण को इन सामाजिक इकाईयों में सामूहिक रूप से देखा जा सकता है। धीरे-धीरे मनुष्यता धर्म से आध्यात्मिकता की ओर तथा व्यक्ति से सामूहिकता की ओर बढ़ रही है। एक का अनेक में, अनेक का एक में रूपान्तरण क्रांति का चरम बिन्दु होगा।

श्री अरविन्द ने नवीन वैश्वयिक व्यवस्था की परिकल्पना की थी। हमारे विश्व विद्यालयों में पढ़ने व पढ़ाने वाले बुद्धिवादी लोग प्रायः श्री अरविन्द को चेतना के स्तर पर होने वाले जादुगरी परिवर्तन के सन्त के रूप में छोड़ देते हैं।

निःसंदेह श्री अरविन्द उनकी तार्किक बुद्धिवादी क्रियाओं से परे हैं। यदि हम श्री अरविन्द को पूर्वाग्रह को छोड़कर समझना चाहें तो उनके लेखन में अद्भुत भविष्य वाणियों की सच्चाई ऐतिहासिक रूप से सिद्ध होते देखते हैं। श्री अरविन्द ने बहुत पहले यह जान लिया था कि भारत को 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त होगी जो कि 1872 में उनका जन्म दिवस था और सन् 1947 में ऐसा ही हुआ।

सन् 1949 में श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक ‘द आइडिल ऑफ ह्यूमन’ में एक सतह पृष्ठ का प्रशिष्ट जोड़ा जो मूलरूप से आर्य में 1915 से 1918 के बीच प्रकाशित हुआ। यह किसी को भी आश्चर्य कर देने वाली बात है कि उन्होंने इन लेखों में एशिया के कई तथ्यों पर विश्व को चेतावनी दी थी। यहाँ तक कि उन्होंने यह भी स्पष्टता से कहा कि चीन की सैनिक शक्ति द्वारा भारत की सीमा पर अग्रघर्षण की सम्भावना है। सन् 1962 में जब श्री अरविन्द की भारत पर चीनी आक्रमण के बाद कैंनेडी के सामने रखा गया तो उन्होंने जैसे कि भारत के बुद्धिवादी पूछते हैं ठीक वैसे ही आश्चर्य चकित होकर पूछा कि —

“आपके कहने का मतलब यह है कि कोई मनुष्य जो साधना व धारणा में व्यस्त है उसने साम्यवादी चीन के इरादों को 1950 से पूर्व पहचान लिया था।”⁽¹²⁾ राष्ट्रपति कनैडी की श्री अरविन्द के बारे में अज्ञानता को माना जा सकता है परन्तु हमारे देश के बुद्धिवादियों को भी ऐसी बातों से आश्चर्य ही होता है।

हम जानते हैं कि भारतीय काँग्रेस ने श्री अरविन्द के इस सुझाव को नहीं माना और क्रिप्स के सुझाव को नहीं माना और भारत का विभाजन हो गया। श्री अरविन्द का पांडिचेरी में अपनी साधना का लक्ष्य था कि यह धरा मानव के लिए सुरक्षित हो। श्री अरविन्द ने किसी भी

अन्य विचारक की अपेक्षा मानवीय क्षमता पर अधिक विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने यह माना कि मानवीय दिमाग का विकास मानवीय चेतना का उच्चतम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य उससे भी अधिक विकसित होने में सक्षम है। वह अतिमानसिक शक्तियों की परिकल्पना करते जिससे अधिमानवीय जातियों की उत्पत्ति होगी। “धरती पर सच्ची और स्थाई शान्ति केवल मानव एकता की चेतना की वृद्धि और प्रतिष्ठा के द्वारा ही चरितार्थ हो सकती है। इस लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण आवश्यक और अनिवार्य है। स्वयं मानव चेतना का रूपान्तरण अर्थात् उसके कार्यकलाप का प्रकाशमय और परिवर्तित होना।”⁽¹³⁾

मानव जीवन के इस स्वरूप को इस धरा पर सम्भव करना ही श्री अरविन्द के जीवन का लक्ष्य था। अपनी पुस्तक ‘द आइडिल ह्यूमन युनिटी’ के परिशिष्ट में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा “यदि मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से आगे विकास की ओर जाना चाहता है तो उसे वर्तमान भ्रमिक अन्तराष्ट्रीय जीवन से बाहर निकलना होगा और संगठित रूप से सामूहिक कार्यवाही की शुरुआत करनी होगी जो किसी प्रकार का विश्व-राज्य हो सकता है।”

एकात्मक एवं संघात्मक या परिसंघात्मक या मिश्रित राज्य, इससे कम लक्ष्य की परिपूर्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्री अरविन्द राष्ट्रीय सरकार से आगे वैश्विक सरकार की परिकल्पना करते हैं जो स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ होगा। जिसमें कोई दूसरे का गुलाम नहीं होगा।

चाहे किसी के पास अधिक राष्ट्रीय प्रभाव हो, तो भी सभी के पास समान शक्ति होगी। इस प्रकार का विश्व संघ दीर्घकाल तक जीवित रह सकेगा। सम्भवतः उसका चिरस्थायी अस्तित्व होगा। श्री अरविन्द का विश्वास था कि प्रकृति धीरे-धीरे मानवता के लक्ष्य की ओर अग्रसर है। परिवार के बाद राष्ट्र एक स्थाई सामाजिक इकाई के रूप में दिखाई दे रहा है। राज्य से राष्ट्रवादी इकाईयाँ स्वार्थ पूर्ण आक्रामक इकाईयाँ बनती जा रही है। श्री अरविन्द का विश्वास था कि धीरे-धीरे यह राष्ट्रवादी इकाईयाँ किसी राजनैतिक समाधान के आधार पर एकीकृत होगी।

हमने सैनिक संधियों को संधियों के आधार पर एक होते देखा है। जैसे— नाटों, सामूहिक सुरक्षा वैचारिक आदान-प्रदान के लिए राष्ट्र को गठित होते देखा है, जैसे— सार्क/क्षेत्रीय आधार पर अफ्रीका व अरब को एकीकृत होते देखा।

मानवता को अपने अस्तित्व को सुरक्षित करने के लिए मानवीय एकता की ओर आगे बढ़ना ही होगा। आज मानवता दो राहों पर खड़ी है। उसे सामूहिक विनाश और सार्वजनिक विकास में से एक को चुनना होगा।

श्री अरविन्द की अनमोल विचारधारा के अनुरूप मनुष्य सार्वजनिक विकास के रास्ते को भी चुनेगी। चेतना के स्तर पर हो रहे परिवर्तनों से मानवता आंतरिक प्रेरणा से ही मानवीय ऐक्य की ओर बढ़े। इसलिए वृहत्तर सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। मानवीय चेतना को विकास के लिए स्वतंत्रता की जरूरत है ताकि वह सकारात्मक रूप से साहसिक अभियान कर सके। इस दीर्घकालीन योजना को सत्य से गुजरने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी

प्रयत्न करने होंगे। हमें बन्द घरों में पले-बड़े, युवा साथियों के स्थान पर स्वतंत्र चेतना वाले साहसी युवक व युवतियों की जरूरत है जो सतही सच को चीर कर असली सत्य को ढूँढ़ निकाले और विश्व चेतना में सम्भावित परिवर्तनों के स्वतः स्फूर्त सिपाही होंगे, जो आर्थिक अन्याय उत्पीड़न आतंकवाद और राजनैतिक शोषण और सर्वाधिकार वादी विचारधारा को खत्म कर देंगे।

उनके लिए सामाजिक भेदभाव या जाति समीकरण कोई मायने नहीं रखते हैं। निरक्षरता ज्ञान से वह खुले दिभाग से स्वतंत्र चेतना के संवाहक होंगे। उनके लिए जीवन का उद्देश्य धन कमाना मात्र नहीं है। जीवन जीना मात्र नहीं होगा, वह ज्ञान तकनीकी के गुलाम नहीं होंगे बल्कि स्वामी होंगे। निश्चित रूप से यह मनुष्य जाति नफरत को जन्म नहीं दे सकती। इसलिए कोई चाहे न चाहे हमें श्री अरविन्द की चेतना में मानव जाति का भविष्य सुरक्षित करना होगा और यह तभी सम्भव होगा, जब मानव जाति ईमानदारी से अतिमानस की ओर बढ़े।

“धरती स्थायी और सजीव शान्ति का रस तभी ले पायेगी, जब मनुष्य यह समझ लेंगे कि उन्हें अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सच्चा और निष्कपट होना चाहिए।”⁽¹⁴⁾

नेटिजन हो जाने के युग में तकनीकी उहपोह में न खो जाएं बल्कि वैश्विक नागरिक सही बन जाएं वैश्विक नागरिक बनकर।

श्री अरविन्द के आर्दश स्वप्न को पूर्ण करें। श्री अरविन्द ने आत्मा के विकास की परिकल्पना करते हुए यह स्पष्ट किया कि सच्चा धर्म आध्यात्मिक है, जो बुद्धि से परे है। इसलिए यहाँ बौद्धिक सिद्धान्तों या पुजारियों के उपदेशों का कोई काम नहीं है। यह मनुष्य के जीवन को भीतर से नियन्त्रण करता है। इसमें जीवन का नकार नहीं है, परन्तु जीवन को परिपूर्ण रूप से जीना है। मनुष्य अपनी निचली प्रकृति से उठकर आत्मा के स्तर पर उन्नत होता है। व्यक्तिगत जीवन के उन्नत होने से समाज भी परिवर्तित होता है।

श्री अरविन्द कहते हैं— स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व यह आत्मा के तीन ईश्वरीय गुण हैं। इनको समाज द्वारा या मनुष्य द्वारा बाह्य रूप से तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब तक वह व्यक्तिगत व सामुदायिक अहंकार में जीता है। जब अहंकार स्वतंत्रता का दावा करता है तो व्यक्तिगत प्रतियोगिता उत्पन्न होगी। जब मनुष्य समानता की माँग करता है तो पहले संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रकृति के गुणों की अवहेलना करते हुए मशीनी समाज बना लिया जाता है, वही समाज जो स्वतंत्रता का अपने आर्दश के रूप में अनुपालन करता है, वहाँ समानता नहीं होती। जिस समाज का लक्ष्य समानता हो उसे स्वतंत्रता का बलिदान करना होता है। ऐसे समाज में बन्धुत्व कैसे हों, जो उसके मूल प्रकृति के विरुद्ध है। बन्धुत्व आत्मा के स्तर पर आत्मा के द्वारा ही अस्तित्व में होता है। अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं है।

“समस्त संकीर्णता, स्वार्थपरता, सीमाबन्धन को झाड़ फेंको और मानव एकता की चेतना के प्रति जागें। शान्ति और सामंजस्य पाने का यही एक रास्ता है”⁽¹⁵⁾

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य को आत्म-चेतना के स्तर पर जागृत नहीं किया जा सकता, तब तक मानवीय एकता सम्भव नहीं है। मनुष्य पाशाण युग से परमाणु युग तक पहुँच गया है। इस लम्बे इतिहास में मनुष्य ने राज्य के कई स्वरूप देखे। धर्म की कई चर्चाएँ सुनीं व जानी। नित्य नई वैज्ञानिक खोजें की, बौद्धिक चर्चाओं के साथ-साथ नैतिकता के पाठ पढ़े और पढ़ाये तो भी मनुष्य, मनुष्य के साथ शान्तिपूर्वक रहना नहीं सीखा। श्री अरविन्द इस समस्या का समाधान 'द ह्युमन साइकिल' में प्रस्तुत करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की दोहरी प्रकृति है। वह अपने शारीरिक व प्राणीय स्तर पर जड़ीभूत पाशविक वृत्ति का संयुक्त कार्य करता है। उन्हीं के अनुसार उसकी इच्छाएँ व इरादे दिखाई देते हैं, जबकि अपनी अर्ध दैविक स्वरूप में जाते ही वह बौद्धिक और नैतिक संरचना का व्यवहार करता है। अभी तक मनुष्य अपने वृहत्तर स्वरूप से अपने निचले स्वरूप को नियन्त्रण नहीं कर सका। यही सारी व्यवस्थाओं की असफलताओं का मूल कारण है। आदर्श राज्य का राजा आदर्श राजा असमर्थ रहे हैं। समय-समय पर उपदेशों से या शिक्षा से मनुष्यों को बेहतर प्राणी बनाने की कोशिश की जाती है। अब तक मनुष्य सामाजिक रूप से नहीं जी सका। तमाम राजनीति व्यवस्थाओं, कानूनों और न्याय प्रक्रियाओं के रहते मनुष्य अपने आपसे और अपने साथियों के कठोर व्यवहार से आहत होता ही रहा है। यही क्रम निरन्तर जारी रहेगा जब तक मनुष्यों का व्यक्तिगत स्तर व उसके और सामाजिक स्तर पर उन्नयन भी श्री अरविन्द की क्रांति का लक्ष्य है।

“हर रोज चीजें ज्यादा-ज्यादा बिगड़ती हुई मालूम होती हैं। वस्तुतः हमें पुरानी सड़ती हुई दुनियाँ से अधिकाधिक घृणा होती जा रही है और हमें एक ऐसे नये जगत की स्थापना की आवश्यकता का अधिक विश्वास होता जा रहा है जो घिसे-पिटे रास्तों से दूर, जीवन का एक नया पहलू है। जिसमें नयी और अधिक ज्योति अभिव्यक्त हो सके, एक नया जगत आ सके, जो स्वार्थ भरी प्रतियोगिताओं और अहंकारपूर्ण संघर्षों पर आधारित न होकर सभी के कल्याण ज्ञान और प्रगति के लिए व्यापक उत्सुक प्रयास पर आधारित हो। एक ऐसा समाज हो जो धन और भौतिक शक्ति की जगह आध्यात्मिक अभीप्सा पर आधारित हो।”⁽¹⁶⁾

श्री अरविन्द की क्रांति की अवधारणा टुकड़ों में बंटी नहीं है वह एकीकृत शिक्षा के द्वारा मानवीय प्रकृति में अमूल परिवर्तन चाहते हैं। ऐसा परिवर्तन होने से समाज की तस्वीर ही बदल जायेगी। फलस्वरूप राजनीति व्यवस्था तदनुरूप होगी।

स्पष्टतः श्री अरविन्द की राजनैतिक क्रांति का आधार उग्ररूप में था। वह गाँधीवादी तरीकों में विश्वास नहीं करते थे। उनके लेखों ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में नये प्राण फूँक दिये, अँग्रेज अधीर हो उठे और उन्होंने उन्हें जेल में बन्द कर दिया। वहीं से श्री अरविन्द की क्रांति की आवश्यकता ने एक नया स्वरूप लिया। उन पर आरोप था कि उनके लेखों ने लोगों को देश-द्रोह व हिंसा के लिए बढ़ावा दिया, जबकि इस संगीन अपराधों के आरोपों को झेलते हुए उन्हें अद्भुत अनुभव हुए।

मई 1909 में जेल से मुक्त होते ही श्री अरविन्द ने उत्तरपाड़ा में धर्मरक्षिणी सभा में अपने आध्यात्मिक अनुभवों की चर्चा सबके सामने की। यह श्री अरविन्द ने निजी स्तर पर रूपान्तरण क्रांति का बीज ढूँढा जा सकता है। यह श्री अरविन्द के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण समय सिद्ध हुआ जब उन्होंने आध्यात्म साधना द्वारा क्रांति करने का प्रण ले लिया।

क्रांति का मूल अर्थ है 'परिवर्तन'। अब तक इस परिवर्तन के लिए उग्र विचारधारा का रुख करने वाले श्री अरविन्द स्वयं ही बदल गये। किसी एक व्यक्ति के जीवन में आये हुए परिवर्तन को केवल वे व्यक्ति जान सकते हैं, समझ सकते हैं, जिसकी चेतना का स्तर मनुष्य की निरी पाशविक वृत्तियों से तनिक उन्नत हों, जिनके जीवन का अर्थ भोजन, मैथुन और निद्रा से तनिक अलग हों। जड़ीभूत मनुष्यों की समझ से श्री अरविन्द परे हैं इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि आम लोग श्री अरविन्द की धारणा से अनभिज्ञ रहना बेहतर समझे या जानकर भी समझ न सके या समझ कर भी विश्वास न कर सकें।

श्री अरविन्द चिन्तन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य को केवल निचले स्तर पर ही जीवित रहना सन्तोष नहीं दे सकता। संगीत, साहित्य और कला से चाहकर भी मनुष्य बच न सका। मनुष्य के जीवन में रस, गीत व विज्ञान और तकनीकी के साथ कला का भी बेजोड़ स्थान है। प्रत्येक मनुष्य बाल्यकाल से बेहतर बनने का प्रयास करता है, स्वयं को सजाने संवारने की कला से शुरु हुआ यह सफर शिक्षा व धर्म में परिलक्षित होता है। श्री अरविन्द की क्रांति की अवधारणा वहीं से शुरु होती है, जहाँ आम मनुष्य ऊपर की ओर चढ़ते हुए जड़ीभूत से लड़खड़ाते हुए लौट आता है। श्री अरविन्द के लिए धर्म मनुष्य की उन्नति का चरम शिखर तो है, चरम बिन्दु नहीं है। श्री अरविन्द का कथन है कि मनुष्य को धर्म से पहले आध्यात्म की राह पर पहला चरण भी रूपान्तरण क्रांति की शुरुआत का पहला चरण है।

मनुष्य के मूल स्वरूप एवं स्वभाव को परस्पर पूरक शक्तियों द्वारा ही निर्धारित किया जाता है और यह समय-शक्तियों द्वारा ही निर्धारित किया जाता है और यह समय-समय पर होने वाली घटना नहीं है। बल्कि इस प्रक्रिया में नित निरन्तरता का क्रम है। यद्यपि इस क्रम का एहसास साधारण व्यक्ति को नहीं होता है। साधारण मानव अपनी दैनिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति में इतना अधिक व्यस्त है कि वह अपने चारों ओर होने वाले उन परिवर्तनों को जाने अनजाने अनदेखा कर देता है। श्री अरविन्द ने रहस्य की इसी ग्रंथी को अपने दोनों महत्वपूर्ण ग्रंथों 'सावित्री' और 'दिव्य जीवन' में अभिलेखित किया है। दोनों पुस्तकें इस मूलभूत अवधारणा पर आधारित हैं, कि अनादिकाल से पृथ्वी पर विकास का अनुक्रम जारी है। श्री अरविन्द का यह कहना सर्वथा सही प्रतीत होता है। वराह अवतार से लेकर कल्की अवतार तक जीवन के विकास की कहानी स्वयं मुखरित हो रही है। यही सत्य श्री अरविन्द के द्वारा प्रतिपादित रूपान्तरण क्रांति का आधार माना जा सकता है।

आदिकाल में मनुष्य का विकास भौतिक स्तर पर हुआ होगा। उस दृष्टिकोण से मनुष्य सर्वोत्कृष्ट जीव होने का दावा करता है। विकास के इसी क्रम में अवचेतन के स्तर पर

लगातार विकास की ओर बढ़ रहे मानव में अधिमानव के रूप में विकसित होने कि अनन्त सम्भावनाएँ छिपी हैं। श्री कृष्ण के रूप में 'ओवर माइण्ड' का इस धरा पर अवतरण हुआ। इसी प्रकार आज सामान्य मानव की कल्पना से परे है कि कोई अधिमानव इस धरा पर दिव्य आनन्द का संस्करण दिव्य ज्ञान से ओत-प्रोत होगा और सम्भवतः दुःख क्लेश से परे होगा क्योंकि रूपान्तरण क्रांति के कारण उसकी बुद्धि आज के मानव की बुद्धि से अधिक परिपक्व होगी। वह केवल कुछ सूचनाओं का भण्डार नहीं होगा, बल्कि उसे सही गलत का आन्तरिक रूप से प्राप्त ज्ञान और यही ज्ञान उसके आनन्द का कारण होगा।

किसी भी मनुष्य में दो प्रकार की इच्छा शक्ति होती है, बाह्य एवं आन्तरिक। बाह्य इच्छा शक्ति से मनुष्य भौतिक कार्य सम्पन्न करता है तथा आन्तरिक इच्छा से रूपान्तरित हो अतिमानस को पा सकता है।

श्री अरविन्द ने आत्मा के विकास की परिकल्पना करते हुए यह स्पष्ट किया कि सच्चा धर्म आध्यात्मिक है, जो बुद्धि से परे है। इसलिए यह बौद्धिक सिद्धान्तों या पुजारियों के उपदेशों तक सीमित नहीं है। यह मनुष्य के जीवन को भीतर से नियंत्रित करता है जिसका लक्ष्य है जीवन को परिपूर्ण रूप से जीना। इस प्रकार मनुष्य अपनी निचली प्रकृति से उठकर आत्मा के स्तर पर उन्नत होता है। व्यक्तिगत जीवन के उन्नत होने से समाज भी परिवर्तित होता है।

“श्री अरविन्द कहते हैं स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व; यह आत्मा के तीन गुण ईश्वरीय गुण हैं, इनको समाज द्वारा या मनुष्य द्वारा बाह्य रूप से तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब तक वह व्यक्तिगत व सामुदायिक अहंकार में जीता है। जब अहंकार स्वतंत्र रूप से दावा करता है तो व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है। जब समानता की माँग करता है तो पहले संघर्ष उत्पन्न होता है, प्रकृति के गुणों की अवहेलना करते हुए एक कृत्रिम व मशीनी समाज बना दिया जाता है। वही समाज जो स्वतंत्रता का अपने आदर्श के रूप में अनुपालन करता है, वहाँ समानता नहीं होती। जिस समाज का लक्ष्य समानता हो, उसे स्वतंत्रता का बलिदान करना होता है। ऐसे समाज में बन्धुत्व कैसे हो, जो उसके मूल प्रकृति के विरुद्ध है। फिर भी बन्धुत्व का विचार ही इस त्रिगुणात्मक विचारधारा का मूल है। स्वतंत्रता और समानता को मानवीय बन्धुत्व की शक्ति से प्राप्त किया जा सकता है। बन्धुत्व आत्मा के स्तर पर आत्मा के द्वारा ही अस्तित्व में होता है अन्य किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है।”⁽¹⁷⁾

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक मनुष्यों को आत्म चेतना के स्तर पर जाग्रत नहीं किया जा सकता तब तक मानवीय एकता सम्भव नहीं है। मनुष्य पाषाण युग से परमाणु युग तक पहुँच गया है। इस लम्बे इतिहास में मनुष्य ने राज्य के कई स्वरूप देखे, धर्म की कई चर्चाएँ सुनी व जानी। नित्य नई वैज्ञानिक खोजें की। बौद्धिक चर्चाओं के साथ-साथ नैतिकता के पाठ पढ़े और पढ़ाए, तो भी मनुष्य ने मनुष्यों के साथ शान्तिपूर्वक रहना नहीं सीखा। श्री अरविन्द इस समस्या का समाधान 'द ह्यूमन साइकिल' में प्रस्तुत करते हैं।

मनुष्य का व्यक्तिगत स्तर और सामाजिक स्तर पर उन्नयन भी श्री अरविन्द की

क्रांति का लक्ष्य है। श्री अरविन्द की क्रांति की अवधारणा टुकड़ों में बंटी नहीं है। वह एकीकृत शिक्षा के द्वारा मानवीय प्रकृति में आमूल परिवर्तन चाहते हैं। ऐसा परिवर्तन होने से समाज की तस्वीर ही बदल जायेगी। फलस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था तदनु रूप होगी।

“मानव जाति की एकता एक ऐसा यथार्थ है जिस पर दो मत नहीं हो सकते, लेकिन इस सत्य को साक्षात् करने और इसे जीवन में तीव्रता से गतिशील करने का उपाय श्री अरविन्द ने दिखाया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि सर्व में एकत्व के अनुभव को वास्तविक बनाया जा सकता है।”⁽¹⁸⁾

“क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और हमारे अभी तक के अपूर्ण मानसिक यंत्रों के द्वारा कार्य कर रहा है। सामान्यतः जीवन का केन्द्र हमारी प्राणिक और भौतिक सत्ता में, उसकी लालसाओं और आवश्यकताओं में स्थायित्व वृद्धि, विस्तार और उपभोग सम्बन्धी उसकी माँग में और समस्त प्रकार की शक्तियों, आधिपत्यों, कर्मों और वैभव और विशालता की प्राप्ति के प्रयत्न में अवस्थित रहता है।”⁽¹⁹⁾

मानव अभी तक अपूर्णता का जीवन जी रहा है, क्योंकि वह उस सत्य चेतना से बहुत दूर है। अभी मनुष्य की आत्मा प्रकृति के आवरणों में छिपी हुई है जिसके लिए श्री अरविन्द ने संघर्ष किया व अतिमानव बनने की राह खोली। जिस अतिमानव चेतना की श्री अरविन्द ने वर्षों पहले खोज कर ली थी, उसे आज के विचारक भी मानने लगे हैं, तथा इस सत्य को भली-भाँति जानने लगे हैं कि जब तक मानव प्रकृति के आवरण से बाहर निकल कर अतिमानवता को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे स्थाई सुख प्राप्त नहीं होगा।

“नीट्शे का यह विचार कि हमारी वर्तमान अत्यन्त असन्तोषजनक मानवता में से अतिमानव को विकसित करना ही हमारा वास्तविक कार्य है। अपने-आपमें एक अत्यन्त यथार्थ शिक्षा है। उसने जो यह लक्ष्य बनाया है कि ‘अपने स्वरूप को प्राप्त करो, अपने आपको अतिक्रम करो’ जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने अभी तक अपनी सत्ता व अपनी प्रकृति को नहीं पाया। जिसके द्वारा वह सफलतापूर्वक और सहज भाव में जीवन-यापन कर सके तो इससे अच्छा लक्ष्य और क्या हो सकता है।”⁽²⁰⁾

इस तरह आज भी विचारक उस सत्य को खोज रहे हैं, जिसमें मनुष्य के विकास की सम्भावना है।

“जो ओलिम्पिया, अपोलो और डिओनिसिअस का दिव्यत्व है, जैसा कि तार्किक और चेतन रूप में सबल शक्ति रखने वाला प्राणी अर्थात् मनुष्य थोड़े-बहुत अस्पष्ट रूप में बनने का प्रयास कर रहा है।”⁽²¹⁾

हमारे धर्म ग्रन्थों ने जिसे मोक्ष का नाम दिया, वह ही अतिमानव का रूप है। परन्तु वह अभी तक भ्रामक स्थिति में है क्योंकि मानव को यह पता नहीं है कि उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। अभी वह स्थिति सर्घशशील अवस्था में है।

“इसलिए हम कहते हैं कि बुद्धि और संकल्पशक्ति नहीं, किंतु हमारे अन्दर की वह सर्वोच्च वस्तु जो तर्क-बुद्धि से भी ऊँची है। अर्थात् आत्मा, जो यहाँ हमारी निम्न प्रकृति के आवरणों के पीछे छुपी हुई है, दिव्यता का गुप्त बीज है और जब यह ढूँढ़ ली जायेगी और हमारे सामने प्रकट हो जायेगी, तो यह मन के ऊपर की एक ज्योतिर्मयी वस्तु होगी, यह एक ऐसा विस्तृत आधार होगी जिस पर मनुष्य का दिव्य जीवन सुरक्षित रूप से प्रतिष्ठित किया जा सकता है।”⁽²²⁾

आज मनुष्य के लिए अतिमानव के बारे में सोचना डरने जैसी बात है, क्योंकि आज का साधारण बुद्धि वाला मानव अपनी चेतना को विकसित करने से डरता है। वह समझता है कि चेतन अवस्था से पूर्ण अवस्था उस पर अपना अधिकार जमा लेगी। जबकि यह सत्य नहीं हैं। अतिमानव किसी पर अधिकार नहीं, बल्कि मनुष्य के लिए उस चेतन शक्ति का द्वार खोलना चाहता है, जो उसका सारस्वत रूप है। परन्तु जो वस्तु हमें असामान्य लगे वह वास्तव में असामान्य तो है, परन्तु उसके जैसी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसलिए, वह सर्वथा विशेष है और खोज का विषय है। वह एक तरह से कहा जाय तो यह असामान्य वस्तु मनुष्य के लिए एक वरदान है, क्योंकि इसी असामान्य स्थिति के द्वारा मानव अपने सच्चे व दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को अपनी सामान्य स्थिति तब ही प्राप्त होगी जब वह अपनी असामान्य स्थिति छोड़कर सामान्य चेतन स्थिति को स्थापित करेगा।

“मनुष्य एक असामान्य प्राणी हैं जिसने अभी तक अपनी सामान्यता को प्राप्त नहीं किया है, वह इसके होने की कल्पना कर सकता है। वह अपने ढंग के अनुसार अपनी जाति में सामान्य प्रतीत हो सकता है, किन्तु यह सामान्यता केवल एक प्रकार की अस्थायी व्यवस्था ही होती है। अतएवं, मनुष्य, वनस्पति या पशु से अत्यधिक बड़ा होते हुए भी उनके समान अपनी प्रकृति में पूर्ण नहीं है।”⁽²³⁾

तत्पश्चात् उस स्थिति को प्राप्त मानव अपनी पूर्ण स्थिति की तुलना उस प्रकार करेगा जैसा कि आज वह अपनी तुलना पशुओं से करता है तथा अर्द्धदेव से पूर्ण देवत्व में आ जायेगा। वह इसलिए कि मनुष्य की यह स्थिति दुःख मनाने वाली नहीं है। यह मनुष्य की वह स्थिति है जिससे मनुष्य अपनी चेतना के द्वार खोल सकता है। पुराने ऋषि-मुनियों ने भी मनुष्य योनि को दुर्लभ बताया, क्योंकि यह योनि पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ है और इस योनि में अपना विकास करके मानव अतिमानव बन सकता है।

“मनुष्य अपनी उच्चतम अवस्था में एक ऐसा अर्द्ध देवता है जो पशु-प्रकृति से ऊपर उठ चुका है तथा इस बात में वह अत्यधिक असामान्य है, किन्तु जो चीज अर्थात् सम्पूर्ण देवता बनना उसने आरम्भ कर दिया है, वह जो कुछ मनुष्य वस्तुतः है। उससे इतनी अधिक बड़ी चीज है कि वह उसे अपनी तुलना में उतनी ही असामान्य प्रतीत होती है जितना कि वह स्वयं पशु की तुलना में प्रतीत होता है।”⁽²⁴⁾

मनुष्य के लिए मनुष्य मन का रूपान्तरण एक सुन्दर व्यवस्था है। मानव बाह्य प्रकृति से नहीं बल्कि अपनी अन्तर चेतना के रूपान्तरण द्वारा एक सुन्दरतम जीवन जी

सकता है। जब तक मानव अपनी सच्ची चेतना को प्राप्त नहीं कर सकता तब तक वह दोहरा जीवन जियेगा। एक तो साधारण प्रकृति वाला जीवन जिसमें मनुष्य अपनी सांसारिक कार्य करता है। जैसे— खाने की वस्तु व कपड़ा आदि का प्रबन्ध करना।

दूसरा वह जीवन है, जिसमें मानव यह सोचता है कि उसे परलोक सुधारने का कार्य करना है वह आंशिक रूप से यह साधारण जीवन के ऊपर का जीवन है।

“हमारी पशु-प्रकृति का उद्देश्य प्राणिक आधिपत्य और उपभोग की वृद्धि करना है, हमारे अर्ध-दिव्य भाग का उद्देश्य भी विकसित होना, अधिकृत करना और उपभोग करना है।”⁽²⁵⁾

मानव को अपने को साधारण मानव से ऊपर उठने के बाद अपने को दिव्य प्रकृति में ही रहना चाहिए क्योंकि मनुष्य यदि अपने को ऊँचे लक्ष्य में सुदृढ़ता से बनाये नहीं रखेगा तो उसे जड़ प्रकृति में लौटने का खतरा बना रहेगा।

“हमारी अर्ध-दिव्य प्रकृति का उद्देश्य उतना बाह्य जीवन में विकसित होना नहीं है जितना कि ‘सत्य’, ‘शिव’ और ‘सुन्दर’ में विकसित होना है। बाह्य जीवन के विकास का उद्देश्य वहीं तक ठीक है जहाँ तक कि वह मानवी-अस्तित्व की सुरक्षा, सुख-सुविधा और मर्यादा के लिए आवश्यक है। यही मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही इस निश्चेतन भौतिक प्रकृति के स्वाभाविक नियम में उसकी अपूर्व विलक्षणता तथा असामान्यता है।”⁽²⁶⁾

इसलिए उच्च अवस्था को प्राप्त मानव जड़ प्रकृति को देखें, तथा अपने को सुदृढ़ रखते हुए जड़ प्रकृति को भी ऊपर उठाने का कार्य करें, क्योंकि यही उसका धर्म है।

अब मनुष्य ने अपने सत्य जीवन को प्राप्त करने की राह देख ली वह जीवन के सच को भली-भाँति जान गया है। परिणामस्वरूप अब वह जड़ प्रकृति में स्थिर नहीं रह सकता और इससे आगे की जो अवस्था है उसे पाना उसके लिए कठिन है। यहीं से रूपान्तरण क्रांति का बीजारोपण होता है। यही दुविधा, यही बैचेनी रूपान्तरण क्रांति के द्वार की कुँजी कही जा सकती। जैसे प्यासा कुँए को ढूँढ़ता है, ऐसे ही विकल मन दिव्य ज्योति के लिए आकुल है।

यह ‘कुछ’ खोजने की इच्छा ही नयी यात्रा का आरम्भ है। यात्रा दुरुह है, और कठिन परीक्षा से गुजरे बिना रूपान्तरण क्रांति न तो व्यक्तिगत जीवन में और न सामाजिक जीवन में सम्भव है। ‘सत्य’, ‘शिव’, तथा ‘सुन्दर’ कलात्मक रूप का दिव्य रूप में बदलना कठिन है।

“यदि व उसके किसी अधूरे रूप के निकट पहुँचना भी है— पर ऐसा भी केवल एक वर्ग या कुछ व्यक्ति ही कर पाते हैं जिसकी जनसाधारण के जीवन पर कुछ प्रतिक्रिया अवश्य होती है तो भी वह पुनः पीछे लौटकर जीवन के सामान्य हास की अवस्था में गिर पड़ता है, या फिर उससे फिसलकर किसी ऐसी व्याकुल पर देने वाली क्रांति में जा गिरता है जिसमें से वह नयी प्राप्ति के साथ निकल तो आता है, पर इसके साथ ही उसे कई गुरुतर हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं।”⁽²⁷⁾ फिर मनुष्य ने अपने को विकसित करने वाली शक्ति प्राप्त कर ली है।

जिस सत्ता को हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसने प्राण और शरीर को आत्म शक्ति कहा है। इसी बात में श्री अरविन्द अन्य विचारकों से अलग माने जाते हैं क्योंकि अन्य विचारकों ने मानव शरीर को तुच्छ माना है, तथा जगत को स्वप्न माना है तथा प्राण और शरीर को आत्म शक्ति कहा है। साधारण मनुष्य की असफलता इस बात में है कि वह जो रूपान्तरण अपने जीवन में चाहता है, अर्थात् इस उच्च शक्ति को प्राप्त करना चाहता है, वह उसे पूर्णरूप से नहीं मिली क्योंकि वह उस शक्ति को कैसे प्राप्त करता। इसका कारण है कि वह उसे पूर्णरूप से नहीं जानता और उसके जीवन का आधार आज भी भौतिक व प्राणिक है।

“कुछ आलोक उसे प्राप्त अवश्य हुआ है तथा उसके आवेगों पर उच्चतर शक्तियों ने कुछ हद तक प्रतिबंध भी लगाया है, किन्तु कुछ आलोक ही, और वह भी आँशिक रूप में प्राप्त हुआ है, उसका रूपान्तर नहीं हुआ है। उस पर प्रतिबन्ध अवश्य लगा है, किन्तु वह न तो अधीन हुई है और न वह उच्चतर स्तर तक पहुँची ही है।”⁽²⁸⁾

साधारण बुद्धि वाले मनुष्य उच्चतर जीवन को एक बोझ की तरह मानते हैं, वह समझते हैं कि वह उच्चतर जीवन हमारे जीवन पर अनचाहा हस्तक्षेप है तथा जड़ प्रकृति के जीवन में उच्चता का जीवन उत्साहित व निरुत्साहित करने वाले भाषण दे रहा है।

“यह आक्रांता अनवरत् रूप से सामान्य जीवन में हस्तक्षेप, करता है, उसे डाँटता है, उत्साहित और निरुत्साहित करता तथा उपदेश देता है, उस पर कार्य करता और उसमें अनुकूलीकरण लाता है, उसे फिर से गिर पड़ने के लिए ऊपर उठाता है, पर उसे रूपान्तरित करने, उसमें चमत्कारी परिवर्तन लाने और उसका पुनर्निर्माण करने की शक्ति उसमें नहीं है।”⁽²⁹⁾

अतः मनुष्य यह भी नहीं जानता कि हम जो संघर्ष कर रहे हैं वह हमें कहाँ ले जा रहा है। मनुष्य कुष्ठा से भरा हुआ है, क्योंकि कभी वह अपने जड़ प्रकृति से भरे जीवन में ही रहना चाहता है और कभी वह यह भी सोचता है कि उसे अपने परलोक को सुधारने के लिए उच्च कार्य करने चाहिए और संसार के जड़ जीवन से मुक्त होना चाहिए।

इस तरह मनुष्य के अन्दर ये दोनों वृत्तियाँ निवास करती है, जिससे वह निर्णय नहीं ले पाता कि उसे क्या करना चाहिए।

इस बात पर श्री अरविन्द कहते हैं— “ये दोनों उन बेमेल पति और पत्नी के समान हैं जो सदा ही झगड़ते रहते हैं, पर थोड़ा-बहुत प्रेम भी करते हैं या कम से कम एक-दूसरे के लिए आवश्यक होते हैं, परस्पर मेल रखने में भी असमर्थ हैं, पर एक दुःखदायी डोरे में तब तक बंधे रहना भी उनके भाग्य में बंदा है जब तक कि मृत्यु ही उन्हें अलग न कर दे।”⁽³⁰⁾

मनुष्य की कुण्ठा, असन्तुष्टि का कारण उसकी दो तरह की प्रकृति का होना है, क्योंकि मानव मन यह नहीं जानता कि उसको मुक्त कैसे होना है, जो उच्च शक्ति मनुष्य को थोड़ा बहुत मिली है वह केवल इनके बीच का कार्य करती है। भौतिक, प्राणिक रूप को वह पूरी तरह रूपान्तरित नहीं कर सकती, और मानव मन को पूरी तरह रूपान्तरित होना है। इसलिए मानव कुष्ठा से भरा हुआ है।

मानव मन यह उम्मीद रखे हुए है कि जब कुछ मानव धरती पर दिव्य जीवन जी चुके हैं जैसे बौद्धिक तो समस्त मानव जाति भी 'सत्य', 'शिव' का जीवन अवश्य जियेगी, उसका विश्वास है कि कोई मानव महामानव बनकर समस्त मानव जाति को रास्ता दिखायेगा।

इस सब के बावजूद यह बात सोचने लायक है कि जिस मनुष्य ने धरती पर उच्च जीवन जीया, तो कैसे जिया, उसका आधार क्या था, शायद उसने अपने मन की भौतिक व प्राणिक प्रकृति को दबा दिया, या उसे जीवन में सीमित क्षेत्र तक रखा तो वह मनुष्य जीवन का रूपान्तरण नहीं था।

“जीवन पूर्णतया बुद्धिसंगत नहीं हो सकता, न वह नैतिक सौंदर्यात्मक या वैज्ञानिक और दार्शनिक मनोवृत्ति के पूर्णतया अनुकूल ही बन सकता है, मन रूपान्तर का कोई निर्दिष्ट देवदूत नहीं है। इसके विपरीत, समस्त बाह्य रूप सदा चक्षु-भ्रम, अर्थात् एक प्रकार की बौद्धिक सौंदर्यात्मक या नैतिक भ्रांति होते हैं।”⁽³¹⁾

मनुष्य के प्रयास से कभी-कभी जीवन दब जाता है, परन्तु दबने के बावजूद वह अपने को एक सुरक्षित दिशा में रखता है। यह एक व्यक्ति या एक समूह पर भी लागू होता है, क्योंकि चाहे मनुष्य अपने को कुछ समय के लिए किसी मिथ्या के अधीन रखे, तब भी जीवन वह बुद्धि को पराजित कर देता है। इसका कारण है कि विद्रोही तत्व हमेशा कार्य करते रहते हैं। जिससे सत्य तत्व दब जाते हैं, परन्तु धीरे-धीरे सत्य तत्व अपने विरोधी तत्वों से अलग कर देते हैं और अपना स्थान प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार यदि सात्विक तत्व अपना स्थान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते तो, वे स्वयं नष्ट हो जाता है, जिसका समाज पर बुरा असर होता है। फलस्वरूप समाज नष्ट हो जाता है। मनुष्य समाज में ऐसा भी होता है जब मनुष्य सत्य के तत्व को देखता है और अपने जीवन की स्वाभाविक प्रकृति में आ जाता है, और यदि जीवन अपनी सहज प्रकृति में नहीं लौटता तो वह नष्ट हो जाता है। जिसका असर समस्त समाज पर इस तरह पड़ता है कि समस्त समाज नष्ट होने की स्थिति में आ जाता है।

मनुष्य जाति ने ऐसा समय भी देखा जब वह बुद्धि को एक काल्पनिक उच्च प्रकृति में लगा देती है तथा उसे उच्च रूपान्तरण के बजाय जहाँ तक बुद्धि का क्षेत्र है, वही बुद्धि को लगा दिया जाता है तथा मानव जाति इसे जीवन का रूपान्तरण समझ बैठती है।

“अभी हाल का जड़वादी युग ऐसा ही समय था, जब कि मानव-बुद्धि ने यह निश्चय कर लिया प्रतीत होता था कि वह 'जीवन' और 'जड़तत्व' का पूर्णतया अध्ययन करेगी, केवल उसी को स्वीकार करेगी तथा मन को 'जीवन' और 'स्थूल पदार्थ' का एक यंत्रमात्र समझेगी।”⁽³²⁾

इस जड़वादी प्रकृति में मानव बुद्धि अपना सारा ज्ञान भौतिक व प्राणिक कार्य को बढ़ाने में लगा देती है। इस प्रकार का कार्य करना ही मनुष्य जाति के भौतिक युग की कार्यशैली की महानता थी।

मनुष्य जाति का भौतिक युग ऐसा युग था जिसमें नैतिकता का ह्रास होने लगा और भौतिकवाद नैतिकता पर हावी होने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के नैतिक मन को जीवन जीने में कठिनाई होने लगी और उसने जीवन के सारे कार्य सौन्दर्यवादी हाथों को दे दिये।

इस तरह बुद्धि केवल मानव जीवन की खाली शोभा बनाने वाली बन गई जिसका अपना कोई कार्य नहीं था, क्योंकि मनुष्य पूर्णतया भौतिकता के आवेश में आ गया। परन्तु प्राणिक जीवन का जो विकास हुआ वह धीरे-धीरे खत्म होने लगा, जैसा कि हर बार इतिहास में होता है। क्योंकि इतिहास अपने को दोहराता है, ठीक वैसे ही प्राणिक जीवन की प्राणिति होती है, बुरे पर अच्छे की विजय, क्योंकि प्राणिक जीवन का अन्त भी उसके अपने ही हाथों से हुई।

इस तरह का अन्त उसकी नियति बन गई। उसका साम्राज्य नष्ट हो गया, क्योंकि यह विशिष्ट व सभ्य राष्ट्रों के बीच का युद्ध था।

“कारण इस महान् युद्ध का यही अर्थ था और अपने मूल में वह था भी यही, क्योंकि यही युद्ध से पूर्व की समस्त कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का रहस्य या स्पष्ट अभिप्राय था और यदि एक श्रेष्ठतर विचार कम-से-कम कुछ समय के लिए उठा भी तो उसका कारण मृत्यु का भय और विकराल पारस्परिक विनाश का भयावह प्रेत था।”⁽³³⁾

इसके बावजूद यह जागृति वह जागृति नहीं थी, जिसकी मानवजाति को आवश्यकता थी, इसलिए इसे पूर्ण जागृति नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस जागृति का अस्तित्व अवश्य था और जर्मनी भी इस जागृति का समर्थक था यह जागृति पैदा होने के लिए अपनी लड़ाई लड़ रही थी। अतः इस जागृति की अपनी एक विशेषता अवश्य थी। इस तरह छोटे से समय के लिए ही सही, यह जागृति अपना अधिकार जमाने के लिए नैतिकता के रास्ते पर आयी। परन्तु इस प्रकार की कोशिश थोड़े से रूप में अच्छी है, परन्तु मानव को यहाँ ही नहीं रुकना चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य जीवन का पूर्ण रूपान्तरण नहीं है और न ही मानव जीवन का लक्ष्य है। क्योंकि मनुष्य का लक्ष्य इस पर अतिमानसिक सत्ता को पाना है।

“यही हमारी सर्वोच्च सत्ता और प्रकृति है— जो अभी हम हैं नहीं, पर जो हमें बनना है तथा जो ‘नीट्शे’ द्वारा प्रस्तुत प्रबल और प्रबुद्ध प्राणिक ‘संकल्प शक्ति’ नहीं, बल्कि वह आध्यात्मिक सत्ता और आध्यात्मिक प्रकृति है जो मानसिक से वंचित आध्यात्मिक मानसिक रूप से जो कि पहले से है कार्य लेगी तथा आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा हमारी प्राणिक और भौतिक प्रकृति के उद्देश्य और कार्य को मूर्तरूप देगी।”⁽³⁴⁾ और उस अतिमानसिक सत्ता को पाने के लिए अधिकार जमाने लगी।

“इस जागृति में श्रेष्ठ व्यवस्था की कुछ आशा अवश्य थी। किन्तु, चाहे कुछ समय के लिए ही हो, प्राणात्मवादी उद्देश्य ने अब फिर से एक नये रूप में अपना सिर ऊँचा कर लिया और आशा एक ऐसे अंधकार और विक्षोभ में पड़कर क्षीण हो गयी है जिसमें केवल श्रद्धायुक्त

दृष्टि ही यह देख सकती है कि यह तीव्र अव्यवस्था एक नयी सृष्टि की तैयारी कर रही है।”⁽³⁵⁾

इस तरह यह जागृति अपूर्ण रूप में विद्यमान होते हुए भी इसका कार्य होगा। इतिहास की तरफ लौटना तथा व्यक्तिगत, राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीयता के रूप में व्यक्ति का रूपान्तरण कर देना।

इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य जाति को निम्न चेतना में पड़कर ही चैन से नहीं बैठना चाहिए बल्कि उच्च चेतना में निवास करना चाहिए। मनुष्य के अन्दर जो उच्चतम चेतना है इसका अर्थ—

नीट्शें के शब्दों में— “खतरे में निवास करना प्रतीत हो सकता है, किन्तु इसी खतरे के द्वारा विजय और सुरक्षा प्राप्त हो सकती है।”⁽³⁶⁾

मानव जीवन का लक्ष्य है उच्च सत्ता को प्राप्त करना। क्योंकि जड़ चेतना में रहकर मनुष्य को सुखकर लगता है परन्तु उसका अन्त सुखकर नहीं लगता। इस तरह हमारे ऋषि—मुनियों ने मनुष्य की मुक्ति का उपाय बहुत सालों पहले बता दिया था। परन्तु मनुष्य ने उन उपायों से कुछ ही अंश लिया।

अतः हमें अब वह प्राचीन पद्धति अपनानी होगी जिससे मानव अतिमानव बन सके। वैसे तो भारत भूमि सहित कई एशियाई देशों ने इस प्राचीन पद्धति को कभी खोया नहीं है, बल्कि कुछ समय के लिए इसे भूल गये या अपने सच्चे जीवन की राह से भटक गये। परन्तु मनुष्य जाति आज भी उस प्राचीन ऋषि—मुनियों तथा श्री अरविन्द द्वारा बताई गई जीवन पद्धति को आज भी प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि वे प्राचीन पद्धति को सिर्फ भूले हैं। समस्त रूप से मिटे नहीं हैं।

एशिया की अपेक्षा यूरोप ने अच्छा जीवन जिया। किन्तु यह जीवन एशिया के जीवन से अच्छा नहीं था, क्योंकि यूरोप ने यदि विकास किया तो सिर्फ भौतिक स्तर पर, जबकि एशिया ने आध्यात्मिक स्तर पर जीवन जिया। जो कि स्थाई जीवन है।

एशिया को जीत भले ही नहीं मिली हो परन्तु यूरोप के भौतिक जीवन से उसका हार का जीवन ज्यादा महत्वपूर्ण था।

दूसरी बात यह है कि एशिया को हार इसलिए नहीं मिली कि वह आध्यात्मिक जीवन जी रहा था, बल्कि इसलिए मिली कि उसने आध्यात्मिक पूर्णता का जीवन नहीं जिया। उसने या तो जीवन व आध्यात्मिक को अलग—अलग माना या फिर जितना मिला उसी में सन्तोश कर लिया। जबकि भारतीय सनातन धर्म के अनुसार जीवन को तब तक विकसित करो, जब तक आत्मा पूर्ण तरह से भौतिक जीवन का रूपान्तरण नहीं कर लेगी। भारत में अध्यात्म का नियम है कि जब मानव हर तरह से हार जाता है कि यहाँ अवतार जन्म लेते हैं और वह अवतार वास्तविक सत्य का जो राज्य है उसकी स्थापना करता है। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द का नाम भी अग्रणी है।

अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हुए मनुष्य जो गलती करता है, वे उन गलतियों से अच्छी हैं, जो गलतियाँ आध्यात्मिक जीवन को छोड़कर की जाती हैं। ठीक इसी तरह भौतिक एवं प्राणिक जीवन पर आध्यात्मिक जीवन को अपनाना भी ठीक है और आध्यात्मिक जीवन को भौतिक जीवन पर अपनाना भी बिल्कुल सही है।

इस तरह जड़ जीवन को निम्न प्रकृति पर इसलिए छोड़ देना चाहिए कि वह आध्यात्मिकता के अधीन रहे। वह जितना सम्भव हो सके आध्यात्मिकता को ही अपनाये। क्योंकि भूतकाल का जीवन इसी नियम पर आधारित है और भविष्य का जीवन भी इसी नियम पर आधारित होगा। वैसे तो यह पूर्ण रूपान्तरण नहीं है, यह अतिमानसिक जीवन तक पहुँचने का पड़ाव मात्र है। क्योंकि यदि मनुष्य इसी पर ठहर जाएगा तो वह जीवन का जो असली तत्व है, उसे खो देगा।

आज मानव जाति शांतिपूर्वक जीवन नहीं बिता रही है, जबकि वह थोड़ा आध्यात्मिकता के निकट है, उसके सामने आध्यात्मिकता खुली पड़ी है। फिर भी मानव जाति को आध्यात्मिक जीवन कठिन लग रहा है और यह तब तक लगता रहेगा जब तक मानव जाति उस परम तत्व को नहीं जान जाती जो उसके सामने बाँहें फैलाएँ खड़ी हैं।

जो रास्ता मानव जाति को कठिन लग रहा है उसी पर चलकर मानव जाति अपने जीवन का रूपान्तरण करेगी व परम सुख का अनुभव करेगी।

“रूपान्तरण का रहस्य हमारे जीवन—केन्द्र को एक उच्चतर चेतना में रूपान्तरित करने और हमारी प्रधान जीवनशक्ति को परिवर्तित करने में है।”⁽³⁷⁾

अतिमानसिक रूपान्तरण वह है जो मानव जाति को उस सत्य तक पहुँचाता है जिसका उसे अधिकार है अथवा जहाँ पहुँच कर मानव जाति पूर्णता को महसूस करेगी। यद्यपि वह कार्य पशु प्रकृति से मानव प्रकृति तक पहुँचाने से भी कठिन होगा, क्योंकि मानव अभी भी पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं है।

हम मानव जाति को उस आध्यात्मिक सत्ता को प्राप्त करने में देशी नहीं करनी चाहिए और जीवन में शरीर तथा प्राणिक की जगह से ऊपर उठ जाना चाहिए। अभी तक मानवजाति इस तरह के जीवन को संकल्प नहीं बल्कि स्वप्न मानती है। यदि यह स्वप्न भी है तो भी यह स्वप्न अवश्य साकार होगा।

मनुष्य जाति को अपनी वास्तविक प्रकृति को जानकर जड़ जीवन का रूपान्तर अतिमानसिक जीवन में करना चाहिए। क्योंकि मानव जीवन का सत्य अतिमानसिक जीवन ही है। जिसे बुद्ध ने निर्वाण व अन्य भारतीय ऋषियों ने मोक्ष कहा है। मानव जाति को अब वह सत्य पाना ही होगा, अब और अधिक निम्न प्राणिक वेग नहीं चाहिए। मनुष्य जाति के अन्दर जो अहंकार है उसे निकाल कर आध्यात्मिका को जगह देनी चाहिए।

“हमारे जीवन धारण करने की शक्ति को अब और अधिक ‘प्रकृति’ का निम्न प्राणिक आवेग नहीं रहना चाहिए, जो हमारे अन्दर पहले ही चरितार्थ हो चुका है और अब केवल अहं केन्द्र के चारों ओर चक्कर ही काट सकता है, बल्कि वह आध्यात्मिक शक्ति होना चाहिए

जिसके बारे में हम कभी-कभी सुनते या बोलते हैं पर जिसका आन्तरिक रहस्य हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।⁽³⁸⁾

अब मानव जाति को प्राणिक सत्ता के वश में नहीं रहना चाहिए। अभी तक मानव जाति भौतिक व प्राणिक सत्ता के बस में है, इसका कारण है कि वह नहीं जानती कि अपने उच्च चेतना के साथ किस तरह सामन्जस्य बनाया जाय। आध्यात्मिक चेतना अभी भी बाहरी परतों से दबी है, वह चाहती है कि कब मानव बाहरी सत्ता को छोड़कर आन्तरिक (आत्मा) सत्ता में विश्राम करे। मानव जाति का कार्य है अपने अहंकार को त्यागकर आत्मा की ओर बढ़ना। मनुष्य ने अभी तक जो कोशिशें की हैं वह उच्च चेतना तक पहुँचने की एक छोटी सी कोशिश है, जो अभी तक अधूरी है।

“हमारा सर्वोच्च प्रयास और परिश्रम मानसिक प्राणी बनना और विचार की सामर्थ्य में निवास करना ही रहा है। किन्तु हमारा मानसिक विचार सदा ही मध्यवर्ती और साधनरूप होता है। कर्म के आधार के लिए वह सदा ही अपने से अतिरिक्त किसी और वस्तु पर निर्भर रहता है और इसलिए यद्यपि वह कुछ समय के लिए अपनी पृथक् तुष्टि के हित यत्न भी कर सकता है, वह सदा केवल उसी से संतुष्ट नहीं रह सकता। वह या तो नीचे और बाहर प्राणिक और भौतिक जीवन की ओर आकर्षित होता है या फिर उसे अन्दर और ऊपर आत्मा की ओर उठना होता है।”⁽³⁹⁾

मनुष्य सदा दो भागों में बंट जाता है और वे दो प्रवृत्ति हैं— आदर्शवादी एवं यथार्थवादी। यथार्थवादी प्रवृत्ति मानव को सरल लगती है क्योंकि इसका कार्य बाहरी इन्द्रियों से सम्पन्न होता है तथा आदर्शवादी प्रवृत्ति ऐसी प्रवृत्ति से जो अमूर्त है और मूर्त रूप लेना चाहती है। मानवजाति ने अभी तक इतना चेतन विकास नहीं किया कि वह आदर्शवादी को अपने जीवन में उतार सके। इसलिए मानवजाति को आदर्शवादी उच्च जीवन तक पहुँचना है जो कि समस्त मानवजाति का लक्ष्य है।

“कुछ हद तक हमारा कहना ठीक हो सकता है, क्योंकि आदर्श, जो कि हमारे भौतिक जीवन की वास्तविकताओं में एक परदेशी के समान है, वस्तुतः एक अवास्तविक वस्तु है, जब तक कि वह किसी प्रकार हमारे बाह्य जीवन की अपूर्णताओं के साथ समझौता ही नहीं कर लेता जिसे वह खोज रहा है तथा उसे हमारे बाह्य कर्मों पर लागू ही नहीं कर लेता।”⁽⁴⁰⁾

मानवजाति अपने को या तो जड़ जीवन में स्थिर रखें या उस सत्य तक पहुँचे जहाँ उच्चसत्ता स्थित है और जिसे समस्त मानवजाति खोज रही है। यदि वह दोनों में से किसी एक में स्थिर नहीं होती तो वह त्रिशंकु की तरह दोनों चीजों के बीच में अटकी रहेगी। इसलिए उसे दोनों में से एक को चुनना आवश्यक है। यद्यपि भौतिक यथार्थ को पाना सरल है, क्योंकि मनुष्य जन्म इस भौतिक जड़ प्रकृति में ही लेता है और आध्यात्मिक आदर्शवाद मानवजाति को कठिन लगता है, परन्तु आध्यात्मिक आदर्शवाद मानवजाति को पाना ही होगा, क्योंकि यही समस्त मानवजाति का लक्ष्य है। यदि मनुष्य अपने संकल्प द्वारा प्राणिक

मन को आध्यात्मिक मन बना ले तो मानवजाति का रूपान्तरण होना कठिन नहीं होगा और मानवजाति (आध्यात्मिक) रूपान्तरित चेतना के साथ-साथ भौतिक मन को भी अपने में समाहित कर देगी।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य उच्च चेतना को प्राप्त करके पूर्णता को पाना है। इसलिए उसे पहले अपना अस्तित्व बनाने के लिए पहले अर्द्ध चेतना को पाना होगा। मनुष्य के अन्दर जो दो प्रकार के मन हैं उनमें सर्वप्रथम एक भाग चुनना होगा। वे दो भाग हैं— प्राणिक मन व आध्यात्मिक मन, प्राणिक मन में निवास कर मानवजाति केवल अपनी सीमित सीमाओं में सन्तुष्ट रहेगी। परन्तु इस तरह का कार्य वह वनस्पति व पशु जीवन में रहकर भी कर सकती है क्योंकि पशु का जीवन मन व शरीर एक ही तरह के होते हैं। वे यह नहीं सोचते कि कल क्या होगा। हम जीवन कैसे गुजारेंगे। हमारी पूर्णता कहाँ है, जबकि मनुष्य यह सब सोच सकता है और उसे और आगे बढ़ना है।

“यह कार्य वह वनस्पति और पशु जीवन में रहकर कर सकती है, क्योंकि वहाँ जीवन और शरीर एक ही समय में साधन और लक्ष्य दोनों हैं। वे अपने से आगे की वस्तु नहीं देखते, पर वह मनुष्य में ऐसा नहीं कर सकती। कारण यहाँ वह अपने प्राणिक और भौतिक आधार के बहुत ऊपर निकल गयी है।”⁽⁴¹⁾

कारण अब समस्त मनुष्य जाति के अन्दर एक दिव्य चेतना विकसित हो गयी है, जिसमें आत्मा का प्रकाश जीवन को उज्ज्वल कर रहा है। जीवन व प्राण अब चेतन सत्ता पाने के साधन मात्र बन गये हैं। वे अब लक्ष्य नहीं हैं। अब मनुष्य का लक्ष्य भौतिक जड़ जीवन का चक्कर काटना नहीं है और न वह मानसिक सत्ता के विस्तार में समा सकती है, क्योंकि मानसिक सत्ता ने भी अब साधन का रूप ले लिया। जबकि मनुष्य का लक्ष्य मानसिक सत्ता से आगे बढ़ना है। श्री अरविन्द की यह बात हमारे ऋषि-मुनियों से पूर्णतः मिलती है कि संसार में जड़ प्रकृति से मनुष्य को ऊपर उठना चाहिए, फर्क सिर्फ इतना है कि उन्होंने संसार के भौतिक जीवन को नश्वर कहा, जबकि श्री अरविन्द ने संसार के जीवन को त्याज्य नहीं बताया; बल्कि भौतिक जीवन में ही अतिमानसिक का अवतरण बताया है। इस तरह मनुष्य का लक्ष्य आगे की चेतना को प्राप्त करना है जो कि मनुष्य के अन्दर छिपी है और अन्दर से बाहर आना चाहती है। परन्तु मानवजाति उसे एक असामान्य वस्तु मानती है। जबकि आत्मा की वह चेतना जिससे मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, वही अतिमानसिक सत्ता है।

वनस्पति व पशु की सत्ता जड़ चेतना पर आधारित होती है, जिससे उनका कार्य निम्न प्रकृति द्वारा संचालित होता है। परन्तु मनुष्य की चेतना उच्च होती है और उसे अपने कार्य भी उच्च चेतना तक विकसित करना होगा।

आध्यात्मिक मनुष्य अपने को अनुभूत सत्ता के सत्य भाव में उतार सकता है, और अपनी दिव्य प्रकृति को प्राप्त कर सकता है। यह चेतना अपने आप प्रेरित होगी और मनुष्य के अंतःकरण में उत्पन्न होगी। यह समस्त मानव जाति का ब्रह्म होगा।

“यह आध्यात्मिक प्रकाश के एक सहज तत्व का, एक एकीकृत और सर्वांगसंपन्न उच्चतम

सत्य, विशालतम सौंदर्य, शुभ, सामर्थ्य आनन्द, प्रेम और एकत्व की शक्ति का प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन होगा।^{॥(42)}

इस आध्यात्मिक शक्ति का कार्य है मानवजाति के जीवन में उनकी आवश्यकताएँ पूरी करना होगा। परन्तु यह शक्ति भौतिक, प्राणिक जीवन पर निर्भर नहीं रहेगी और न ही वह उस रुके हुए विकास पर रुकेगी जो मनुष्य अपने कर्मों द्वारा जीवन चक्र में फँसा रहता है। आत्मा की एक उन्नत पूर्णता है तथा उसके अन्तहीन रूप है, तथा असीम ढंग है, फिर भी आत्मा विविध रूप होते हुए, एकता में अनेकता और अनेकता में एकता रहेगी। इसलिए जिस तरह मानसिक विचार आत्मा के साथ कार्य नहीं कर पाती, जैसे कि वह साधारण जीवन के साथ करती है। जैसे मन का विचार अपने कार्य करने में आत्मा को अपने अधीन करता है तो अच्छा परिणाम नहीं आता। अच्छा व पूर्ण परिणाम तभी आता है। जब आत्मा भौतिक, प्राणिक, विचारों को अपने में समाहित करके एक दिव्य चेतना से प्रकट हुए जीवन को प्रकट करती है।

मनुष्य ने यह गलती की कि उसने आत्मा को भौतिक और प्राणिक सत्ता के अधीन किया, जिस कारण से उसका पूर्ण विकास नहीं हुआ।

“मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता और पूर्णता तभी प्राप्त होगी जब अंतरस्थ आत्मा मन और प्राण के रूपों में से फूट पड़े और अपने विज्ञानमय और तेजोमय शिखरों तक उड़ान लेकर उसी प्रकाश और ज्योति से उन्हें अधिकृत करना तथा अपनी प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित करना आरम्भ कर दे।”^{॥(43)}

अतः मानवजाति का मन बुद्धि एक स्थाई चेतना से भरे हुए नहीं है। ये एक अधूरे सत्य व अनिश्चितताओं का आधार मात्र बना सकती है, जबकि मन व प्राण इनमें श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनके भौतिक, प्राणिक व आध्यात्मिक सत्ता छुपी हुई है।

“वस्तुतः जैसा कि हम देख चुके हैं मन और बुद्धि हमारे जीवन की प्रमुख शक्ति नहीं है, क्योंकि वे केवल अर्ध-सत्यों और अनिश्चितताओं का वृत्त ही बना सकती है और उसी असंतोषजनक घेरे में घूमती हैं। किन्तु मन और प्राण में बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक गतिशील व्यवहारिक, भावुक, संवेदनात्मक, प्राणिक और शारीरिक सत्ता के समस्त कर्म में छुपी हुई एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो तादात्म्य और सहजस्फुरणा के द्वारा देखती है और इन सब चीजों को ऐसा सत्य, ऐसी निश्चयता और स्थिरता प्रदान करती है जिसे ये ग्रहण कर सकते हैं।”^{॥(44)}

वैसे तो मानवजाति विज्ञान व दर्शन के द्वारा अस्पष्ट एवं आंशिक रूप से इस चेतना को देखना शुरू कर दिया है, लेकिन पूर्ण चेतना को मानवजाति तब तक नहीं देख सकती जब तक यह सत्ता मन व प्राण के लिए कार्य कर रही है। मनुष्य के अन्दर जो देवी रूप है, उसका पूर्ण लाभ मानवजाति तभी उठा सकती है, जब वह आध्यात्मिक व अतिमानवता के पथ पर चलकर कार्य करेगी और यह भी स्वीकार करेगी की अभी तक उसने जो कुछ

विकसित किया उसमें उस बुद्धि का भी योगदान है। जो लौकिक रूप में यथार्थ है परन्तु आलौकिक रूप में निरर्थक है तथा वह बुद्धि अतिमानव बनने के लिए पर्याप्त नहीं है।

अन्ततः आगे भविष्य में मानव अपने अन्दर के चेतन प्रकाश को (जिसे भारतीय ऋषियों ने ब्रह्म कहा है) ढूँढ़ना तथा उसको खुले होकर छोड़ना मानवजाति का बहुत विस्तृत व महान कार्य होगा।

अन्तः में उस चेतन सत्ता का कार्य दर्शन, विज्ञान, नीतिशास्त्र, कला, उसका सामाजिक अस्तित्व, एक कार्य कलाप मन, प्राण के अभ्यास नहीं होंगे, बल्कि न वे अपने लिए किये जायेंगे तथा न उनका कोई आकार होगा। मन व प्राण उसके आगे और वह उनके पीछे स्थित होकर महत्तर सत्य की खोज व अतिमानसिक शक्ति को हमारे जीवन में उतारेंगे।

“इस प्रकार हम अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करने के लिए, अपनी पूर्णता का सच्चा विधान खोजने के लिए, अपनी वास्तविक सत्ता और दिव्य प्रकृति में अपना सच्चा और संतुष्ट जीवन—यापन करने के लिए ठीक मार्ग पर बढ़ रहे होंगे।”⁽⁴⁵⁾

श्री अरविन्द का यही कथन रूपान्तरण क्रांति की राजनैतिक जीवन में सापेक्षता सिद्ध करता है।

राज्य का लक्ष्य है — अच्छा जीवन

राज्य का कर्तव्य है — लोक कल्याण

राज्य का स्वरूप है — जन साधारण के लिए अच्छा जीवन उपलब्ध कराने हेतु संगठन।

रूपान्तरण क्रांति का प्रभाव निजी जीवन से शुरू होकर समुदाय तक पहुँचेगा और सामुदायिक जीवन में रूपान्तरण होने से राज्य का स्वरूप स्वतः प्रभावित होगा।

श्री अरविन्द के अनुसार, रूपान्तरण क्रांति देश की सीमाएँ पार करके भूमण्डलीय आधार पर घटित होगी। जनतंत्र की जड़ें भी तो सर्वत्र व्याप्त हुई हैं। आज राजतंत्र का युग नहीं है, साम्यवाद भी अपना प्रभाव खो चुका है।

यही वह संगत समय है जब मनुष्य सुखपूर्वक जीवनयापन करने के लिए भौतिकवादी सुख की परिकल्पनाओं से आगे बढ़ने के लिए तैयार है। सुख भौतिक वस्तुओं में नहीं है। यह आभास ही मनुष्य को रूपान्तरण क्रांति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित कर रहा है।

रूपान्तरण क्रांति के प्रभाव से राज्य शोषण का नहीं, ‘सुख’ का उपादान होगा और मनुष्य जीवन पीड़ा का नहीं, आनन्द का स्रोत होगा।

सन्दर्भ सूची

- (1) श्री अरविन्द, श्री अरविन्द अपने विषय में, पृ.सं. 4, प्र. 605001।
- (2) काँग्रेस का इतिहास डा. बी. पट्टाभि सीतारामय्या, पृ.सं. 40, प्र. सस्ता साहित्य—मण्डल, नई दिल्ली।

- (3) श्री अरविन्द, श्री अरविन्दायन, पृ.सं. 32 ।
- (4) भारत युवा और एकीकरण, पृ.सं. 45, परिशिष्ट, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110016 ।
- (5) काँग्रेस का इतिहास डा. बी. पट्टभि सीतारामय्या, पृ.सं. 65, प्र. सस्ता साहित्य—मण्डल, नई दिल्ली ।
- (6) श्री अरविन्द, श्री अरविन्द अपने विषय में, पृ.सं. 53, प्र. 605001 ।
- (7) श्री अरविन्द उत्तरपाड़ा भाषण, पृ. सं. 2, प्र. 605002 ।
- (8) डॉ. दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी, राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारतीय शासन, पृ. सं. 70, प्र. 1975 ।
- (9) श्री अरविन्द, श्री अरविन्द अपने विषय में, पृ. सं. 37, प्र. 605001 ।
- (10) श्री माँ, प्रकाश की किरणें, पृष्ठ सं. 149, 151, प्र. श्री अरविन्द, आश्रम पाण्डिचेरी ।
- (11) तदैव ।
- (12) तदैव ।
- (13) श्री माँ, श्री अरविन्द कर्मधारा, पृष्ठ सं. 9
- (14) तदैव ।
- (15) तदैव ।
- (16) तदैव ।
- (17) तदैव ।
- (18) तदैव ।
- (19) श्री एम.पी.पंडित, श्री अरविन्द कर्मधारा, पृष्ठ सं. 10
- (20) तदैव ।
- (21) श्री अरविन्द, मानव—चक्र, पृष्ठ सं. 226, प्र. 605002
- (22) तदैव ।
- (23) तदैव, पृष्ठ सं. 227
- (24) तदैव ।
- (25) तदैव, पृष्ठ सं. 228
- (26) तदैव ।
- (27) तदैव, पृष्ठ सं. 229
- (28) तदैव, पृष्ठ सं. 230
- (29) तदैव ।
- (30) तदैव ।
- (31) तदैव, पृष्ठ सं. 230—231
- (32) तदैव, पृष्ठ सं. 232

- (33) तदैव ।
- (34) श्री अरविन्द, मानव—चक्र पृ. सं. 230 प्र. 605002
- (35) तदैव, पृ.सं. 232—233
- (36) तदैव, पृ.सं. 231
- (37) तदैव, पृ.सं. 233
- (38) नीट्शे मानव—चक्र पृ.सं. 233, प्र. 605002
- (39) श्री अरविन्द, मानव—चक्र, पृ.सं. 234, प्र. 605002
- (40) तदैव ।
- (41) तदैव ।
- (42) तदैव, पृ.सं. 236
- (43) तदैव, पृ.सं. 236—237
- (44) तदैव ।
- (45) तदैव, पृ.सं. 238

उत्तराखण्ड पृथक-राज्य आन्दोलन में अनुसूचित वर्ग का योगदान डॉ० किरण सूद* बबीता सहोत्रा**

उत्तराखण्ड की पर्वतीय राज्य के रूप में अपनी सांस्कृतिक समृद्धि के कारण भारत के शेष भूभाग से अपनी अलग पहचान रही है। स्वाधीनता पूर्व से ही भौगोलिक रूप से भिन्न इस क्षेत्र के अनियंत्रित प्राकृतिक स्रोतों के दोहन का क्रम था वह आजादी के बाद भी निरंतर जारी रहा। सरकार द्वारा उत्तर पूर्वी हिमालयी क्षेत्रों की भांति उत्तराखण्ड के विकास को अपेक्षित महत्व न दिए जाने पर बंदीदत्त पांडे सरीखे स्थानीय जनप्रतिनिधियों को पृथक नियोजन और अलग प्रशासनिक इकाई की मांग करनी पड़ी। खड़िया, मैग्नेसाइट, चूना, तांबा से लेकर लकड़ी इन सब संसाधनों का पहाड़ों से दोहन तो खूब हुआ लेकिन इनसे संबंधित उद्योगों का स्थानीयकरण पहाड़ों में नहीं हो पाया। फलतः हजारों की संख्या में बेरोजगार, प्रतिवर्ष पहाड़ को छोड़कर मैदान की ओर पलायन करते रहे।

1962 के भारत चीन युद्ध के बाद सरकार को सीमांत क्षेत्र का सामरिक महत्व समझ में आया और पर्वतीय क्षेत्रों में सड़कों का विस्तार किया गया। पहाड़ों में विकास के नाम पर टिहरी जैसे बड़े-बड़े बांध और अभयारण्य थोप दिये गये जिससे स्थानीय जनता को लाभ न होने के कारण असंतोष बढ़ रहा है।

पर्वतीय लोगो ने “जून 1897 में महारानी विक्टोरिया को भेजे बधाई पत्र के रूप में अपनी राजनीतिक व सांस्कृतिक पहचान को पृथक मान्यता दिलाने की बात रखी। इसके बाद पर्वतीय क्षेत्र को संयुक्त प्रांत से अलग करने की मांग को लेकर 27 नवम्बर 1923 को गर्वनर को ज्ञापन भेजा। सन् 1928 को साइमन कमीशन के भारत आने की खबर मिलने पर भारत को आजादी देने की चर्चाओं में शामिल होते हुए उत्तराखण्ड क्षेत्र को विशेष दर्जा दिए जाने की मांग के आशय से तत्कालीन गर्वनर के माध्यम से कुमाऊँ एक पृथक प्रांत” शीर्षक से लिखा गया स्मृति पत्र 1928 में ही ब्रिटिश सरकार को दिया गया था। तब कुमाऊँ का आशय ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन वर्तमान उत्तराखण्ड के उस सम्पूर्ण क्षेत्र से था जिसमें टिहरी रियासत शामिल नहीं थी।”¹

1952 में पहली बार भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव कामरेड पीसी जोशी ने पृथक राज्य के संबंध में भारत सरकार को ज्ञापन दिया। प्रदेश स्तर पर उठाई गई इस मांग को तत्कालीन मुख्यमंत्री गोविन्द बल्लभ पंत ने इसे अस्वीकार कर दिया था। 1957 में पूर्व टिहरी नरेश मानवेन्द्र शाह और द्वारिका प्रसाद उनियाल ने भी पृथक राज्य आंदोलन को उठाने का प्रयास किया था। 10-11 जून 1967 को रामनगर में कांग्रेस सम्मेलन में भी

* विभागाध्यक्षा, राजनीति विज्ञान एम0के0पी0 (पी0जी0) कालेज देहरादून।

** (शोधार्थी) राजनीति विज्ञान हे० न० ब० गढ़वाल (केन्द्रीय) विश्वविद्यालय श्रीनगर गढ़वाल

पर्वतीय क्षेत्र को पृथक प्रशासनिक इकाई बनाने का प्रस्ताव पारित हुआ। इसी वर्ष 24-25 जून को रामनगर में ही आयोजित एक अन्य सम्मेलन में पर्वतीय राज्य परिषद का गठन कर कुछ लोगों ने संगठन के माध्यम से पृथक राज्य के लिए संघर्ष करने का मन बनाया। दिल्ली में प्रवासी उत्तराखण्ड संगठनों ने पहली बार पृथक राज्य के लिए 1968 में वोट क्लब पर प्रदर्शन करते हुए गिरफ्तारियां दीं। इसके बाद 3 अक्टूबर 1970 को कुमाऊं राष्ट्रीय मोर्चा नामक संगठन ने भी अस्तित्व में आकर पृथक राज्य की मांग को उठाने का प्रयास किया। 1971 में उत्तराखण्ड राज्य परिषद का पुर्नगठन हुआ, परिषद के नेतृत्व में पृथक राज्य के गठन के लिए राज्य समर्थक लोगों ने बोट क्लब पर धरना दिया। इसी दिन राज्य गठन की मांग को लेकर प्रधानमंत्री को ज्ञापन भी दिया गया। 1978 में युवा मोर्चा ने उत्तराखण्ड राज्य के नारे को लेकर बद्रीनाथ से दिल्ली तक पदयात्रा की और दिल्ली पहुंच कर संसद घेराव का प्रयास किया, आठ दिन क्रमिक अनशन के बाद 8 सितम्बर को राष्ट्रपति को ज्ञापन देने जाते समय 71 कार्यकर्ताओं को पुलिस ने गिरफ्तार कर तिहाड़ जेल भेज दिया। 31 जनवरी 1979 को उत्तराखण्ड राज्य के मुद्दे पर पहली बार राजधानी दिल्ली में विशाल रैली का आयोजन हुआ, जिसमें लगभग 15 हजार लोगों ने शिरकत की। "24-25 जुलाई 1979 को पर्वतीय जन विकास सम्मेलन के नाम से मसूरी में आयोजित सम्मेलन में पर्वतीय क्षेत्र के पहले राजनीतिक संगठन के रूप में उत्तराखण्ड क्रांति दल नामक क्षेत्रीय संगठन उभर कर आया, जिसने उत्तराखण्ड राज्य के अस्तित्व में आने तक एक सूत्रीय नारे को लेकर संघर्ष जारी रखा।"²

10 अप्रैल 1990 को भाजपा ने बोट क्लब दिल्ली में एक बड़ी रैली कर उत्तरांचल राज्य की मांग को जोरदार तरीके से उठाया।

"लोकसभा में भाजपा के मुख्य सचेतक भुवन चंद्र खंडूड़ी, मछली शहर के सांसद स्वामी चिन्मयानंद, केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी राज्य मंत्री बची सिंह रावत, सांसद मनोहर कांत ध्यानी, सांसद हरपाल साथी (अनुसूचित वर्ग), सांसद मानवेंद्र शाह ने केन्द्र पर दबाव ही नहीं बनाया बल्कि उत्तरांचल भाजपा के अध्यक्ष भगत सिंह कोश्यारी, उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्री रमेश पोखरियाल निशंक, मातबर सिंह कंडारी, वंशीधर भगत, विधायक नारायण राम दास (अनुसूचित वर्ग), अजय भट्ट, भारत सिंह, राजेन्द्र शाह विशन सिंह, रघुनाथ सिंह, हरबंस कपूर, कृष्ण चंद्र पुनेठा, ज्ञानचंद (अनुसूचित वर्ग वर्ग), प्रकाश पंत, तीरथ सिंह रावत, मोहन सिंह रावत 'गांववासी' आदि ने शीघ्र राज्य निर्माण के लिए अपना वजनदार तर्क रखा।"³

"पर्वतीय क्षेत्र में जनजागृति के लिए 15 से 31 दिसम्बर 1991 तक उक्रांद ने भी क्रांति मार्च निकाला जिसमें उक्रांद अध्यक्ष काशी सिंह ऐरी को टिहरी में गिरफ्तार कर लिया गया था। 11 मार्च 1991 को प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने उत्तराखण्ड राज्य की मांग को पूरी तरह से ठुकरा दिया।"⁴

1991 के चुनावों में भारतीय जनता पार्टी को भारी सफलता मिली। उत्तर प्रदेश की

सत्ता में आते ही उसने “12 अगस्त को उत्तरांचल राज्य का प्रस्ताव पारित कर केन्द्र को भेजा पर केन्द्र ने इस प्रस्ताव पर अतिरिक्त विवरण मांगने के अलावा कुछ नहीं किया।”⁵ 16–17 दिसम्बर 1991 को हल्द्वानी में आयोजित बैठक में इस मांग का विरोध किया। 1992 के वर्ष में भूतपूर्व सैनिकों का रुख भी उत्तराखंड आंदोलन की ओर मुड़ गया।

यह क्रम जारी रहा और “उत्तर प्रदेश में दुबारा सत्ता में आने पर मुलायम सिंह यादव ने 1994 में रमाशंकर कौशिक के नेतृत्व में एक समिति का गठन किया, इस समिति की सिफारिशों के आधार पर विधानसभा में पृथक राज्य संबंधी प्रस्ताव पारित करवा कर केंद्र सरकार को भेजा गया। वर्ष 1994 के प्रारंभ से ही राज्य समर्थक शक्तियां निर्णायक संघर्ष छेड़ने का मन बना चुकी थी। “12 जनवरी को उक्रांद ने जखोली ब्लाक मुख्यालय पर आमरण अनशन शुरू कर माहौल गरमाना शुरू कर दिया था। गर्मियां आते-आते सरकार ने शिक्षण संस्थाओं पर आरक्षण लागू कर दिया जिसने आग में घी का काम किया और छात्र सीधे आरक्षण विरोधी आंदोलन में कूद गये।”⁶

10 अगस्त 1994 के दैनिक जागरण के सम्पादकीय के मुताबिक “उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र जिसे उत्तराखण्ड के नाम से जाना जाता है, में आरक्षण का विरोध जिस स्तर पर पहुंच गया है उस पर यदि सरकार अभी भी नहीं चेती तो समस्या बहुत ही गम्भीर हो जायेगी।”⁷

पदमेश बुडाकोटी द्वारा सम्पादित पुस्तक “उत्तराखण्ड आन्दोलन का दस्तावेज में ‘सनद रहे’ नामक पर्चा प्रकाशित किया गया है जो कि “उत्तराखण्ड आन्दोलन सवर्णों का जातिवादी आन्दोलन नहीं है। यह भूगोल के कारण पिछड़े हुए लोगों का अपने पिछड़ेपन के खिलाफ जनयुद्ध है”⁸ जनाक्रोश का कारण अपर्याप्त आवंटित बजट भी रहा। वर्ष 1993–94 के लिए उत्तराखण्ड को 455 करोड़ रुपये का वार्षिक बजट दिया गया है। जबकि उत्तराखण्ड केवल अपने प्रमुख स्रोतों से ही सरकार को एक वर्ष में 1977.55 करोड़ की आय देता है।

मुलायम सिंह यादव ने आरक्षण के समर्थन में तर्क दिया कि “अगर पहाड़ के लोग पहाड़ में 27% आरक्षण के खिलाफ हैं तो उन्हें मैदान में आरक्षण क्यों मिले श्री यादव ने कहा कि सीमावर्ती जिलों के छात्रों के लिए इंजीनियरिंग कालेजों में 4% मेडिकल कालेजों में 6% पालिटेक्निक कालेजों 6.7% आरक्षण की व्यवस्था है। इस वर्ष मेडिकल कालेजों में कुल 1460 सीटों में से 58 छात्र पर्वतीय कोटे के आरक्षण से चयनित हुए हैं।”⁹

उत्तराखण्ड राज्य गठन के लिए 3 दशको से भी अधिक समय तक चले आन्दोलन में अनेक आशंकाओं के बावजूद वंचित वर्ग कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा रहा।

“मार्च 1997 में जब भाजपा के सहयोग से बहुजन समाज पार्टी की सरकार बनी तो “सुश्री मायावती ने 24 अप्रैल 1997 को उत्तराखण्ड राज्य बनाने का प्रस्ताव पारित कर दिया।”¹⁰

उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन में अनुसूचित वर्ग की भूमिका

उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन में अनुसूचित वर्ग की भूमिका के सवाल पर उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलनकारी मंच के जिलाध्यक्ष जे०पी० कुकरेती बताते हैं "उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन सर्व समाज का आन्दोलन था। देहरादून में अनुसूचित वर्ग समाज के रामपाल खटिक और विपिन चंचल इस आन्दोलन के चर्चित नेता थे। देहरादून के अनुसूचित वर्ग से जुड़े राजेन्द्र चौधरी, राजेन्द्र केसला, अनिल खाजीवाल, हरिचन्द्र, दीपक और अनिल जैसे युवा तब आन्दोलन में पूरी तरह सक्रिय थे। देहरादून के अनुसूचित वर्ग बाहुल्य क्षेत्र इन्द्रेण नगर, कांवली रोड, चुक्खुवाला, डी०एल०रोड, इन्दिरा कालोनी और पथरियापीर की अनुसूचित वर्ग बस्तियों से बड़ी संख्या में लोग आन्दोलन से जुड़े। अनुसूचित वर्ग के राज्य आन्दोलन से जुड़ने का फायदा ये हुआ कि नगर पालिका/नगर निगम सहित अनेक विभागों में काम करने वाले अनुसूचित वर्ग के कर्मचारी, सफाई कर्मचारी और उनकी यूनियनों सीधे-सीधे आन्दोलन से जुड़ गये।"¹¹

राज्य आन्दोलनकारी तथा भाजपा के मसूरी विधायक गणेश जोशी भी यही मानते हैं कि राज्य आन्दोलन में अनुसूचित वर्ग की बराबर भागीदारी रही। गणेश जोशी कहते हैं कि 'शुरूआती दौर में भले ही मैदानों में अनुसूचित वर्ग के बीच ऐसा भय था कि नये राज्य में आरक्षण को लेकर हमारे हितों की रक्षा नहीं होगी, लेकिन बाद में उन्होंने आन्दोलन का खुलकर साथ दिया'। गणेश जोशी के मुताबिक देहरादून के 'सुभाष बाल्मीकि, चमन लाल बाल्मीकि, प्रेमचन्द आन्दोलन के सक्रिय नेता थे'¹²।

देहरादून कचहरी परिषद् में भी "9 अगस्त 1994 उत्तराखण्ड क्रान्ति दल महिला प्रकोष्ठ की अध्यक्ष सुशीला बलूनी व केन्द्रीय सदस्य राम प्रसाद ध्यानी व रामपाल सिंह (खटीक) अनिश्चितकालीन अनशन पर बैठ गये'। देहरादून के साथ ही पौड़ी, देहरादून, टिहरी, मसूरी, खटीमा और दिल्ली में जोर पकड़ने लगा। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के शिक्षक व कर्मचारी भी सक्रिय रूप से उत्तराखण्ड आन्दोलन में जुटे रहे। "29 अगस्त 1994 को उत्तराखण्ड संयुक्त संघर्ष समिति के गठन के साथ ही दिल्ली में भी उत्तराखण्ड संयुक्त संघर्ष समिति का गठन हुआ। दिल्ली में गठित उत्तराखण्ड संयुक्त संघर्ष समिति में बी०आर० टमटा और विरेन्द्र शाह जैसे वंचित वर्ग के नेता सम्मिलित थे।"¹³

यही समय था जब उत्तराखण्ड आन्दोलन गतिमान हुआ। भट्ट के अनुसार अगस्त माह समाप्त होने के साथ ही पूरे उत्तराखण्ड अंचल में राज्य आन्दोलन तेज हो गया। इसी दौरान 1 सितम्बर 1994 को खटीमा में पुलिस द्वारा चल रहे। राज्य आन्दोलन और विरोध प्रदर्शनों के बीच पुलिस द्वारा जुलूस को रोकने के लिए चलाई गयी गोलियों से सात राज्य आन्दोलनकारियों की मौत हो गई इनमें से दो राज्य आन्दोलनकारी रामपाल और गोपीचंद वंचित वर्ग से सम्बन्धित थे।

.....खटीमा गोलीकाण्ड के बाद पुलिस द्वारा दर्ज की गयी एफ0आई0आर0 संख्या-273/94 के मुताबिक पुलिस ने अनियन्त्रित भीड़ में से चोटिल हालात में 40 व्यक्तियों को पकड़ा था। इनमें 5 आन्दोलनकारी वंचित वर्ग से थे।

.....1 सितम्बर 1994 को खटीमा में हुए गोलीकाण्ड के विरोध में 2 सितम्बर 1994 को मसूरी में आन्दोलनकारियों ने खटीमा गोलीकाण्ड के विरोध में मौन जुलूस निकालने की तैयारी की थी। लेकिन पुलिस ने मसूरी में धारा 151 लगा दी। पुलिस ने 47 लोगों को गिरफ्तार कर देहरादून जेल भेज दिया। मसूरी से गिरफ्तार कर जिन 47 लोगों को देहरादून की जेल में भेजा गया उनमें से 6 आन्दोलनकारी वंचित वर्ग से सम्बन्धित थे। गिरफ्तार कर देहरादून भेजे गये आन्दोलनकारियों में रवि वर्मा, उत्तर प्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्र सिंह बच्चौराम व जय प्रकाश उत्तराखण्डी वंचित वर्ग के हैं। उनमें सुरेश कुमार, प्रेम सागर, जेटू सिंह, भगवती प्रसाद, नाथी लाल वंचित वर्ग से सम्बन्धित थे। इनमें से नाथी लाल और जेटू सिंह को सरकार द्वारा घायल आन्दोलनकारी का मुआवजा भी दिया गया.....।

.....तत्पश्चात् शहीद स्थल (मसूरी) पहुँचने की कोशिश कर रहे लगभग 100 आन्दोलनकारियों को पुलिस ने गिरफ्तार किया। मसूरी कूच करते हुए गिरफ्तार किये गये 35 आन्दोलनकारियों में से दो आन्दोलनकारी अनुसूचित वर्ग के साथे।

.....भट्ट ने रामपुर तिराहा काण्ड का भी विस्तार से वर्णन किया, राज्य आन्दोलनकारियों ने "2 अक्टूबर 1994 को गांधी जयन्ती के दिन दिल्ली में विशाल रैली करने का ऐलान किया। दिल्ली सरकार द्वारा हालांकि राज्य आन्दोलनकारियों को रैली करने की इजाजत मिल चुकी थी लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार ने जैसे तय कर लिया था कि वे उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलनकारियों को दिल्ली नहीं पहुँचने देगे। पुलिस और पी0एस0सी0 ने आन्दोलनकारी महिलाओं और युवतियों के साथ बलात्कार किये और छात्रों को बेरहमी से पीटा। 1 अक्टूबर 1994 की रात को हुई इस घटना के बाद पुलिस ने रात डेढ़ बजे 343 आन्दोलनकारियों को जिसमें 258 पुरुष शामिल थे गिरफ्तार दिखाया.....। रामपुर तिराहा (मुजफ्फरनगर) में जिन 343 आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार किया गया उनमें से 38 वंचित वर्ग के राज्य आन्दोलनकारी भी शामिल थे।"¹⁵ दिल्ली में सड़कों पर 2 अक्टूबर 1994 को गांधी जयन्ती के दिन यह हंगामा पूरे दिन जारी रहा। यहां तक कि दिल्ली के विजय घाट, केला देवी मंदिर और इन्दिरा कॉलोनी में भी दिल्ली पुलिस ने राज्य आन्दोलनकारियों पर गोलियां भी बरसायी। श्रीयंत्र टापू पर 8 अक्टूबर से 11 अक्टूबर 1995 तक चले आमरण अनशन के बाद 11 अक्टूबर 1995 कोयू.के.डी. नेता बिशन पाल परमार और दौलत राम पोखरियाल आमरण अनशन पर बैठ गए। गिरफ्तार किये गए 52 आन्दोलनकारियों में 2 वंचित वर्ग के थे।"¹⁴

उत्तराखण्ड राज्य गठन के लिए लगभग 30 वर्षों तक चली लम्बी लड़ाई के बाद 9 नवम्बर सन् 2000 को उत्तराखण्ड राज्य का गठन हुआ। राज्य आन्दोलनकारियों के चिन्हीकरण के लिए जारी किये गये "शासन आदेश संख्या 777 /गग(4) 26

/उआ/2006-08 दिनांक 22-10-2008 तथा शासन आदेश संख्या 836/गग(4) 26/उआ/2006-08 दिनांक 20-11-2008 के अनुसार 27 अक्टूबर 2000 को देहरादून जनपद के 180 आन्दोलनकारियों का चिन्हीकरण किया गया जिसमें प्रतीतनगर रायवाला निवासी सोहन लाल आर्य पुत्र लागी राम आर्य, डाकपत्थर रोड़ विकास नगर निवासी मदन लाल पुत्र स्व० श्री लेखराम पाल, राज्य आन्दोलनकारी के रूप में चिन्हित किया गया।¹⁵

राज्य आन्दोलनकारियों की "एल०आई०यू० रिपोर्ट के मुताबिक सोहन लाल आर्य ने उत्तराखण्ड आन्दोलन के दौरान हुए धरना प्रदर्शनों में सक्रिय रूप से भाग लिया था। पुलिस अभिलेखों व 2 दिसम्बर 1994 की पुलिस डायरी के मुताबिक "सोहन लाल आर्य" का चालान धारा 151, 107, 116 के तहत उत्तराखण्ड राज्य समर्थक आन्दोलन के कारण किया गया था। "सोहन लाल आर्य" को ओ०बी० नम्बर 70/94 क्रम 245 में अंकित किया गया था।"¹⁶

"14 दिसम्बर 2010 को देहरादून के 47 अन्य राज्य आन्दोलनकारियों का चिन्हीकरण किया गया, जिसमें वंचित वर्ग के एक युवक रमेश सिंह को आन्दोलनकारी के रूप में चिन्हीकृत किया गया।"¹⁷

27 जनवरी 2011 को कुल 188 राज्य आन्दोलनकारियों का चिन्हीकरण किया गया, जिसमें देहरादून नगर, मसूरी और पछवाडून सहित जनपद देहरादून के सभी क्षेत्रों के राज्य आन्दोलनकारी शामिल थे। इन 188 चिन्हित आन्दोलनकारियों में जिसमें वंचित वर्ग के 8 आन्दोलनकारी शामिल थे।

30 मई 2011 को जिन 270 राज्य आन्दोलनकारियों को मान्यता दी गयी उनमें से देहरादून के 704 डाकरा गढ़ी निवासी रामपाल पुत्र स्व० श्री मोती राम इकलौते वंचित वर्ग के राज्य आन्दोलनकारी थे। इसी प्रकार 31 मई 2011 को जिन 265 राज्य आन्दोलनकारी को मान्यता दी गयी जिसमें 4 वंचित वर्ग के थे।

निष्कर्ष

उत्तराखण्ड राज्य गठन के बाद शुरू हुई सक्रिय राज्य आंदोलनकारियों के चिन्हीकरण की सरकारी व्यवस्था में वंचित वर्ग के राज्य आंदोलनकारियों का नाम नहीं के बराबर है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि राज्य आंदोलन में अनुसूचित जाति की भूमिका नहीं थी अनेक तथ्य, साक्षात्कार और वक्तव्य यह बताने के लिए काफी हैं कि समाज के अन्य वर्गों की जितनी भूमिका राज्य आंदोलन में रही उसके सामानान्तर ही वंचित वर्ग के लोग भी राज्य आंदोलन में सक्रिय रहे। वस्तुतः उत्तराखण्ड आन्दोलन में वर्गीय भेदभाव भुलाकर वे सब लोग शामिल हुए जो उत्तर प्रदेश में पहाड़ के हितों का विकास का पर्याप्त अंश न होने के कारण आहत थे, जो पर्वतीय विकास की प्रभावी नीति के लिए पृथक राज्य की मांग का पूर्ण समर्थन करते थे। वे सभी आन्दोलनकारी सम्मान के पात्र हैं।

संदर्भ सूची

1. उत्तराखण्ड आन्दोलन भाग एक (पृथक राज्य आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रकाशन तक्षशिला नई दिल्ली)
2. उत्तराखण्ड आन्दोलन भाग एक (पृथक राज्य आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज त्रिलोक चन्द भट्ट तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली)
3. उत्तराखण्ड राज्य निर्माण का नवीन इतिहास, तक्षशीला प्रकाशन, नई दिल्ली, त्रिलोक चंद्र भट्ट, पृष्ठ संख्या 286
4. वक्तव्य: सरिता गौड़ राज्य आन्दोलनकारी
5. वक्तव्य मा० मनोहर कान्ती ध्यानी पूर्व राज्यसभा सदस्य ।
6. वक्तव्य सरिता गौड़ राज्य आन्दोलनकारी
7. सम्पादकीय दैनिक जागरण 10 अगस्त 1994
8. उत्तराखण्ड आन्दोलन का दस्तावेज सम्पादक पदमेश बुडाकोटी पृष्ठ संख्या 23 प्रकाशक हिमालय धरोहर अध्ययन केन्द्र कोटद्वार, 1994—95
9. सम्पादकीय: जनसत्ता अगस्त 1994) ।
10. केदार सिंह फोनिया, उत्तरांचल राज्य निर्माण का संक्षिप्त इतिहास प्र०विन्सर पब्लिशिंग क० देहरादून 2005, पृ०सं० 59
11. साक्षात्कार जिलाध्यक्ष, जे०पी० कुकरेती उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलनकारी मंच)
12. साक्षात्कार मसूरी विधायक गणेश जोशी राज्य आन्दोलनकारी ।
13. साक्षात्कार रामपाल सिंह खटीक ।
14. त्रिलोक चन्द भट्ट उत्तराखण्ड आन्दोलन भाग—1 पृष्ठ संख्या 37, 46, 65, 95, 109, 143
15. उत्तराखण्ड आन्दोलन भाग एक (पृथक राज्य आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली)
16. शासन आदेश संख्या 777 / XX (4) 26 / उआ / 2006—08 दिनांक 22—10—2008 तथा शासन आदेश संख्या 836 / XX (4) 26 / उ आ / 2006—08 दिनांक 20—11—2008 के अनुसार 14 दिसम्बर 2000 को किये गये चिन्हीकरण की सूची पृ०सं० 33
17. उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन में सक्रिय रहे आन्दोलनकारियों की चिन्हीकरण सूची दिनांक 27 अक्टूबर 2010 पृष्ठ संख्या 1

“पाल कालीन दृश्य कलाएँ” भजन सिंह*

भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धी विभिन्न जातक कथाओं को बौद्ध धर्मावलम्बियों ने सदा ही पूर्ण त्याग के साथ उनके आदर्श रूप में अंकित, उल्लिखित एवं वर्णित करवाया है। चाहे इनका माध्यम अजन्ता के भित्ति चित्रों की प्रेरणा अथवा पाली एवं संस्कृत साहित्य ही क्यों न रहे हों सभी बौद्ध धर्म के उत्कर्ष एवं विकास के लिए महत्वपूर्ण रहे और उसे पराकाष्ठा के शिखर तक ले जाने में सफल एवं सक्षम रहे। कला के क्षेत्र में बुद्ध चरित्र से सम्बन्धित नाना घटनाएँ बौद्ध धर्म के प्रत्येक केन्द्र से, चाहे वह भारत में हो अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया के किसी भी अन्य देशों में, से निरन्तर प्राप्त हुई है, किन्तु इनकी निर्माण परम्परा का सूत्रपात भरहूत की कला से ही हुआ है।¹ पाल शैली के अन्तर्गत बौद्ध धर्म सम्बन्धी जो भी कलाकृतियाँ मिली हैं उनमें चित्र, मूर्ति (कांस्य एवं पाषाण), साहित्य आदि के साथ-साथ स्थापत्य (चैत्य-विहार) आदि का भी संगम प्रमाण स्वरूप प्राप्त होता है। अतः जिस प्रकार अजन्ता की कला त्रिवेणी एक धारा में प्रवाहमान रही उसी प्रकार पाल शैली में तीनों दृश्य कलाओं के साथ-साथ साहित्य को भी एक अतिरिक्त विधा के रूप में समाहित किया जा सकता है। लगभग चार सौ वर्षों तक पाल साम्राज्य के संरक्षण में यहाँ बौद्ध धर्म का अन्तिम आश्रय स्थल रहा।² इसके पश्चात् किसी भी राजवंश का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, जिसने बौद्ध धर्म को इस प्रकार संरक्षण एवं संवर्धन प्रधान किया है।

पाल कालीन चित्रकला:

इस शैली के चित्र बंगाल, बिहार और नेपाल में लिखी गयी महायान संप्रदाय की पोथियों में और उनके दोनों ओर के पटरों पर अंकित मिलते हैं।³ कलाकार ‘धीमान’ एवं उसके पुत्र ‘वितपाल’ ने इस शैली को पनपने में सहायता प्रदान की।⁴ इस कला शैली के चित्रों के अनेक स्थानों से प्राप्त होने के कारण यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये कलाकृतियाँ अनेक कलाकारों द्वारा चित्रित की गयी होगी, किन्तु उपरोक्त दोनों ही कलाकारों के अतिरिक्त किसी अन्य कलाकार का नामोल्लेख कहीं पर परिलक्षित नहीं होता है। यहाँ यह साक्ष्य अवश्य प्राप्त होते हैं कि धीमान और वितपाल दोनों से ही यहाँ के परवर्ती कलाकार प्रेरित हुए थे। धीमान के अनुकरणकर्ता कलाकारों को पूर्वी स्कूल तथा वितपाल के अनुकरणकर्ता कलाकारों को मध्यदेश स्कूल नाम से जाना गया। इस शैली के जितने भी चित्र उदाहरण प्राप्त होते हैं उन्हें देखकर उनके अन्तर को समझना कठिन है, जबकि यह शैली विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित रही। यदि कोई अन्तर है तो यही कि नेपाल के कुछ चित्रों की मुखाकृति में कुछ मंगोलपन पाया जाता है जिसका कारण और कुछ नहीं, वहाँ के मानव रूप का प्रभाव है।⁵ इस शैली के चित्र ताड़पत्रों पर बनाये गये हैं, जो इन पोथियों में अनेक कथाओं के अनुरूप ही बनाये गये हैं। इन पोथियों में मुख्यतया बुद्ध-प्रतिमानों और अनेक

* शोधार्थी (चित्रकला), कुमाऊँ विश्वविद्यालय, डी0 एस0 बी0 परिसर नैनीताल

देवी—देवताओं के चित्र निर्मित हुए।¹ उनकी दफ्तियाँ या काष्ठ पटों पर बुद्ध के जीवन तथा उनकी शिक्षा—सम्बन्धी चित्र अंकित हैं, जो जातक ग्रन्थों पर आधारित हैं।

पाल चित्रित पोथियाँ:

इस शैली की सचित्र पोथियाँ अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं हुई हैं जो प्राप्त हैं वे लगभग 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के मध्य बंगाल, बिहार, नेपाल, नालन्दा और विक्रमशिला में लिखी एवं चित्रित की गयीं हैं। इन पोथियों में मुख्यतः प्रज्ञापारमिता, पंचशिखा, साधनमाला, गंधव्यूह तथा करनदेवगुहा आदि दो दर्जन से भी कम मात्रा में यह पोथियाँ प्राप्त हो सकीं हैं। पाल शैली के यह दृष्टान्त चित्र अजन्ता से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं जबकि इसके पश्चात् जैन शैली के चित्रों में और भी अधिक ह्रास के चिह्न परिलक्षित होते हैं। यह पोथियाँ महायान बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। श्री रायकृष्ण दास के अनुसार इन चित्रित पोथियों के उदाहरण नेपाल के राजकीय पुस्तकालय, राजगुरु हेमराज के पुस्तकालय, कलकत्ता की श्री अजीत घोश, श्री जालान के संग्रह, काशी के कला—भवन संग्रहालय तथा बड़ौदा के संग्रहालय आदि में आज भी सुरक्षित हैं।¹ भारत के अलावा अनेक विदेशी संग्रहालयों आदि में भी यह पोथियाँ संग्रहित हैं जिनका विवरण निम्नवत् है—

प्रज्ञापारमिता की प्रतियाँ:

- (1) इसके सम्बन्ध में गोपाल चन्द मधुकर चतुर्वेदी का कहना है कि, अब तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सबसे पुरातन सचित्र पांडुलिपि की रचना पाल—वंशीय शासक महीपाल (993 ई0) के राज्यकाल के छठवें वर्ष में हुई थी।¹
- (2) 1071 ई0 की एक चित्रित प्रति रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल में संग्रहित है जिसमें तारामंडल व लोकेश्वर का चित्र अजन्ता के समतुल्य चित्रित किया गया है।
- (3) इस चित्रित पोथी की एक प्रति केम्ब्रिज में संग्रहित है जो महिपाल के राज्यारोहण के लगभग पाँच वर्ष पश्चात् चित्रित हुई।
- (4) वरेडेन वर्ग संग्रह में संग्रहित एक प्रति पाल सम्राट रामपाल के 39वें राज्यारोहण के समय चित्रित हुई थी।
- (5) वारेन्द्र अनुसंधान समिति (राजशाही) संग्रह में हरिवर्मा के 19वें राज्यारोहण के समय की सचित्र प्रति है।
- (6) ब्रिटिश संग्रहालय में पाल सम्राट गोपाल तृतीय के 15वें राज्यारोहण के समय की सचित्र प्रति विद्यमान है जिसको विक्रमशिला महाविद्यालय में चित्रित किया गया था।

पंचशिखा: पंचशिखा की प्रति केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संग्रहित है, जो सम्राट जयपाल के 14वें राज्यारोहण के समय चित्रित की थी। इन पोथियों में जो लिखाई की गई है वह तराशे हुए अक्षरों से चमकीली स्याही प्रयुक्त कर की गई है।

गन्धर्व्यूहः इसकी प्रतियाँ निकोलस रोरिक के पुत्र स्वेतस्लाव रोरिक के कुल्लू (हिमाचल प्रदेश) के संग्रह में विद्यमान हैं। इसमें 126 चित्र हैं जिनको अजन्ता परम्परा पर आधारित चित्रित किया गया है।

बौधिचर्यावत्रः बोस्टन संग्रहालय, अमेरिका तथा वारेन्द अनुसंधान समिति राजशाही में बौधिचर्यावत्र की प्रतियाँ सुरक्षित हैं।

उपरोक्त पोथियों में जो भी चित्रण हुआ है वह सभी ताड़-पत्रों पर लघु आकार में किया गया है। इसके साथ-साथ पाल शैली के चित्र बंगाल में पटचित्रों के रूप में भी प्राप्त हुए हैं। चित्रों को किसी कहानी के अनुसार बीच-बीच में अंकित किया गया है। पाल शैली की पोथियाँ लगभग लम्बाई में 22 इंच तथा चौड़ाई में 2 इंच तक रही हैं, जिसमें प्रयुक्त ताड़पत्रों को छाया में सुखाकर पुस्तकों के रूप में पिरोये जाने की परम्परा रही है।

पाल कालीन मूर्तिकला:

भारतीय कला संस्कृति में मूर्तिकला का विशेष महत्व रहा है। जहाँ पूर्व मध्यकाल गुहा मंदिरों की भव्यता और महान् मूर्तिकला की परम्परा का परिचायक रहा, वहीं उत्तर मध्यकाल में विशाल व भव्य मंदिर आधारित शिल्पकला का विकास हुआ।⁹ यहाँ मूर्तियाँ आस्था तथा विश्वास की अभिव्यक्ति मात्र नहीं हैं, अपितु यह अत्यधिक सम्पन्न, वैविध्यपूर्ण, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक पृष्ठी भूमि को मूर्तता प्रदान करने वाली सुदृढ़ ऐतिहासिक धरोहर भी है। भारतीय कला मात्र रूप की ही अभिव्यक्ति नहीं करती है, वह उदात्त तत्वों, जटिल चिन्तन से उत्पन्न क्षणिक सहजानुभूत अन्तः ज्ञान के रूप में भी अभिव्यक्त होती रही है। इन कलाकृतियों को जिन राजवंशों का आश्रय मिला उनमें गुर्जर-प्रतिहार, पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पाल तथा सेन, केसरी तथा गंग, चन्देल, कत्युरी, परमार, सोलंकी, चोल, होयसल, पाण्ड्य, कार्तिकेय, राय आदि अनेकानेक राजवंश मध्यकालीन इतिहास में विख्यात रहे हैं। इस समय स्थापत्य एवं मूर्तियों में कलात्मकता के स्थान पर आलंकारिकता का अधिक प्राबल्य रहा। स्तम्भों, द्वारों, परगहों आदि को मूर्तियों से अलंकृत किया जाने लगा था। इससे पूर्व कोई भी वास्तु इस प्रकार से मूर्तियों द्वारा सुव्यवस्थित किया जाता था जिसमें उचित स्थान पर ही मूर्ति निर्माण अथवा मूर्ति की स्थापना की जाती थी ताकि वह वास्तु की विशालता व भव्यता को किसी भी प्रकार प्रभावित न कर सके। गुप्तकाल वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म व संस्कृति का पुनरुत्थान काल रहा है इसके साथ-साथ बौद्ध धर्म भी इस समय अपने चर्मोत्कर्ष पर रहा अतः दोनों सम्प्रदायों में प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी जिसके परिणाम स्वरूप ही बौद्ध स्तूपों, विहारों और चैत्यों के साथ-साथ हिन्दू मंदिर-स्थापत्य भी विकसित हुआ। बिहार तथा बंगाल की मध्यकालीन कला पाल एवं सेन शासकों द्वारा संरक्षित वह मौलिक एवं उत्कृष्ट कला शैली है जिसने बौद्ध धर्म को भारत के साथ-साथ विदेशों में भी विस्तारित होने में योगदान दिया।

पाल साम्राज्य आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक पूर्वी भारत

में विद्यमान रहा। इन्होंने असंख्य धातु एवं पाशाण मूर्तियों का निर्माण करवाया इनमें मुख्यतः राजमहल के क्लोराइड तथा बेसाल्ट (काले) पत्थर से पाषाण मूर्तियों को गढ़ा गया तथा धातुओं में मुख्यतः स्वर्ण, रजत एवं ताम्र आदि की मूर्तियाँ जिनकी ऊँचाई प्रायः एक फीट तक है। पत्थर की मूर्तियाँ धातु की मूर्तियों के समान स्पष्ट बाह्य रूपरेखा वाली हैं।¹⁰ यहाँ गुप्त मूर्तिकला का प्रभाव अत्यधिक रहा है अतः भाव—भंगिमाओं की अधिकता, अलंकरण तथा लक्षणों की प्रदानता इनमें स्पष्ट देखने को मिलती है। आरम्भिक चरण में यहाँ बौद्ध सम्बन्धी मूर्तियों का निर्माण हुआ जिनमें बुद्ध, बोधिसत्व, लोकेश्वर बुद्ध आदि थे किन्तु परवर्ती युग में इनके विषयों में विस्तार हुआ अतः इस समय मंजुश्री, तारा, मरीचि, प्रज्ञापारमिता, महाप्रतिसार, पर्ण शबरी, स्थिर—चक्र, त्रैलोक्य विजय तथा उष्णीश विजय आदि विषयों पर मूर्तियाँ पराशी गईं। बंगाल में बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय के प्रभाव से ही इस प्रकार की तांत्रिक विषयक मूर्तियों का निर्माण किया गया था।

पाल शैली की जो मूर्तियाँ आरम्भिक चरण में बनी हैं उनमें मुख्यतः पारदर्शी वस्त्र, कोमल मुखमुद्रा, हस्त—पुष्ट शरीर एवं इन्द्रिय भावों की प्रधानता देखने को मिलती हैं जिसमें आगे चलकर भारी शरीर, अलंकरण में बहुलता तथा मुख्य आकृति के साथ—साथ अनेक गौण आकृतियों का संयोजन और दोहरी भौंह उकेरी जाने लगी। इस सम्बन्ध में **मिनाक्षी कासलीवाल** का कहना है कि, “पाल भासकों के काल में मगध—बंग भौली की स्थापना हुई जिस पर स्पष्टतः पूर्ववर्ती गुप्त मूर्तिकला विशेषतः सारनाथ भौली का, जिसके अन्तर्गत हल्के व इकहरे बदन वाली आकृतियों और पारदर्शक वस्त्र—विन्यास आदि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।” पाल मूर्तिशिल्प हेतु मुलायम पत्थर प्रयुक्त होने के कारण कलाकारों ने सूक्ष्मता के साथ आकृतियों को उकेरा है। धातु मूर्तियों में इससे भी अधिक सूक्ष्मता तथा सौन्दर्य के दर्शन होते हैं चूँकि यह शिल्पाकृतियाँ प्रतिमाशास्त्र में सुझाये गये नियमों के आधार पर ही उकेरी गई हैं।

पाल कालीन वास्तुकला:

स्थापत्य की दृष्टि से बंगाल में मुख्यतः बाँस तथा घास—फूस आदि से बनाई जाने वाली झोपड़ियों के समान चापाकार एवं कोणीय मेहराब और कमानीदार छतें ही ईंटों द्वारा निर्मित करने की तत्कालीन परम्परा रही, क्योंकि यहाँ भवन निर्माण हेतु कोई पत्थर प्राप्त नहीं हो सका। प्रकृति की इस विपरीत भौगोलिक परिस्थिति में भी कलाकारों ने स्थापत्य निर्माण हेतु पकाई गई मिट्टी की ईंटों को प्रयुक्त किया और अनेकानेक वास्तुकला के नायाब नमूने निर्मित किये। इस प्रकार के भवनों में अलंकरण करना अत्यधिक कठिन रहता है फिर भी कलाकारों द्वारा पकी मिट्टी के फलकों को मसाले (मोर्टार) से चिपकाकर भवनों अथवा मंदिरों के बाहरी भाग को अलंकृत एवं सुसज्जित किया जाने लगा। इस प्रकार का एक विशाल मंदिर आठवीं—नवीं शती के लगभग का उत्तरी बंगाल के पहाड़पुर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जो ईंटों द्वारा निर्मित है। एक मान्यता यह भी रही है कि इस क्षेत्र में नवीं शती से पहले तक बौद्ध विहार एवं हिन्दू तथा जैन मंदिर आदि भी इसी पद्धति से निर्मित

किये जाते थे जो मिट्टी की ईंटों के होने के कारण अब नष्ट हो चुके हैं। भवनों में दैनिक जीवन के हर्ष-विशाद, व्यवसाय तथा मनोरंजन, क्रीड़ा व आमोद-प्रमोद का अत्यधिक मात्रा में अंकन किया जाता था। इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पंचतन्त्र, हितोपदेश तथा अनेक जातक कथाओं एवं लोक कथाओं पर आधारित अंकन भी किया।

वास्तुशैली में आगे चलकर मुस्लिम प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में रहा है। तेरहवीं शदी के जो वास्तुकला के उदाहरण प्राप्त होते हैं वे स्थानीय तथा मुस्लिम शैली के समन्वय से निर्मित हुए हैं। इन रूपों के निम्नलिखित वर्ग हैं—

1 चाला (चौ चाला एवं अठचाला) 2 बांग्ला (एक बांग्ला, जोर बांग्ला एवं चार बांग्ला) 3 रत्न या शिखर (एक रत्न, पंचरत्न, नवरत्न या बहुरत्न) 4 अष्ट-भुजाकार 5 दउल 6 मठ।¹¹ सभी भवन झोपड़ियों के समान छप्पर निकले हुए से हैं तथा ईंटों द्वारा ही निर्मित किये गये हैं। पत्थरों का प्रयोग नगण्य रहा है। इन भवनों के खम्भे अथवा स्तम्भ भारी एवं अपेक्षाकृत नाटे बनाये गये हैं।

पाल शैली का आधार अथवा प्रेरणा जो भी रही हो उसने पालवंश के अपने 400 वर्षों की अविलर धारा में अनेक चित्र, मूर्ति, वास्तु एवं साहित्यों को भारत ही नहीं अपितु विदेशों तक प्रवाहमान बनाया एवं पूर्णरूपेण विकसित कर विश्व पटल पर स्थापित किया, इसके साथ ही यह मौलिक पहचान कायम करने में सफल हो सकी है और अपनी समकालीन एवं परवर्ती कला शैलियों के लिए प्रेरणास्त्रोत बनकर परिमार्जित हुई।

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर, (2004) पृ0-468
2. अग्रवाल गिराज किशोर, शिल्प दर्शन, अशोक प्रकाशन मन्दिर, साकेत कालोनी, अलीगढ़, (2006) पृ0-64
3. अग्रवाल, गिराज किशोर, कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, साकेत कालोनी, अलीगढ़, (2009) पृ0-108
4. प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर, (2011) पृ0-109
5. गैरोला वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 38 यू0 ए0, जवाहरनगर, बंगलो रोड़ दिल्ली, 1990, पृ0-131
6. दास रायकृष्ण, भारतीय की चित्रकला, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहबाद, 1972, पृ0-34
7. दास, रायकृष्ण, भारत की चित्रकला, भारतीय भण्डार लीडर प्रेस, इलाहबाद, (1972) पृ0-37
8. चतुर्वेदी, गोपाल चन्द मधुकर, भारतीय चित्रकला: ऐतिहासिक सन्दर्भ, साहित्य संगम, नया लूकरगंज, इलाहबाद, (1999) पृ0-97
9. कासलीवाल, मिनाक्षी, भारतीय मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर, (2011), पृ0-175

पर्यावरण चेतना और वैदिक साहित्य

अजय सिंह*

पर्यावरण आदिकाल से ही मानव के चिन्तन का विषय रहा है क्योंकि मानव जीवन की पर्यावरण से घनिष्ठता रही है। आज बढ़ती हुई मानवीय जिज्ञासाओं ने पर्यावरण संकट को असमाधेय बना दिया है। वैश्वीकरण, औद्योगीकरण, तकनीकीकरण और उदारीकरण के इस दौर ने आज पर्यावरण को प्रदूषित किया है। अगर हम वैदिक विचारधारा का अवलोकन करें तो सम्पूर्ण सृष्टि ही पर्यावरण है। सृष्टि के प्रत्येक उपादान की संरचना आकाश, वायु, पृथ्वी, जल, अग्नि के संयोग से हुई है। ये तत्त्व सृष्टि के परिशोधन व संरक्षण का कार्य करते हैं। पर्यावरण के असन्तुलित हो जाने का प्रमुख कारण इन पञ्चतत्त्वों में विकार उत्पन्ना होना ही है जैसे सूर्य प्रतिदिन उदित और अस्त होता है, यह उसका स्वभाव है। उसके इस स्वभाव में दोष भी है। जैसे सूर्यग्रहण, पर्यावरणीय जीवों की क्रियाओं को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक, जैविक, रासायनिक परिस्थितियाँ हैं।

पर्यावरण प्रकृति का अनुशासन है। जब इस अनुशासन में विकार पैदा होता है। प्रदूषण बढ़ता है। इस प्रदूषण पर नियन्त्रण करने के लिए वैदिक समाधान सर्वाधिक उपादेय है। तभी तो वैदिक ऋषियों ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है और पर्यावरण का पोषण व संरक्षण करके उसमें देवतत्त्व के दर्शन किये हैं। पर्यावरण के संवर्द्धन व विकास के लिए वैदिक दर्शन व चिन्तन अत्यन्त उपयोगी है। आधुनिक मानव भौतिकवाद के दुष्परिणामों से संतुष्ट है। यही प्रमुख कारण है कि पकृति के एक प्रमुख घटक के प्रदूषित होने पर उसकी शारीरिक व मानसिक परिस्थितियों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। प्रकृति के संरक्षण में ही उसकी सुरक्षा है। वेद में ही सार्वभौमिक व सार्वकालिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत हैं, जिसका विस्तृत वर्णन वैदिक साहित्य में समाहित है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिन पञ्चभौतिक तत्त्वों पर आधारित है, वही पञ्चभौतिक तत्त्व समस्त पर्यावरण के सूत्रधार हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि—प्रक्रिया के बारे में कथन है— **‘एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अदभ्यः पृथिवीति’,**¹

आकाश, वायु, पृथ्वी, जल, अग्नि पञ्चतत्त्वों में ही सम्पूर्ण पर्यावरण समाहित है। पृथ्वी से औषधियाँ प्रकट हुई, औषधि से अन्ना, अन्ना से पुरुष उत्पन्ना हुआ है। इस सरचना में किसी एक घटक के प्रदूषित होने पर समस्त प्रणाली दूषित हो जाती है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त मानव को पर्यावरण के प्रति उत्तरदायी बनाता है। मानव को पृथ्वी से सम्बन्ध दिखाया गया है **‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।’** अथर्ववेद ऋषि ने ऐसे पर्यावरण की कामना की है, कि पृथ्वी के पर्वत, हिमाचल के स्थान और वन, मानव के लिये कल्याणदायक हो। सबका भरण पोषण करने वाली, कृषिकर्म में उपयुक्त, वृक्षादिकों को उपज देने वाली, वीरों से रक्षित मातृभूमि पर मानव अर्जित, अहत और अक्षत रहते हुए उसका स्वामी होवें। पारिस्थितिकीय

* शोधछात्र, संस्कृत विभाग, डी.ए.वी.पी.जी कालेज, देहरादून

सन्तुलन को बनाये रखने के लिये अथर्ववेद ऋषि का विशेष आग्रह है। मानव पृथ्वी के जिस भाग को खोदे, उसे अतिशीघ्र भर दे। पृथ्वी के मर्म को हानि न पहुँचाए। वेद उद्घोष करता है कि प्रकृति प्राणियों के लिए सम्यक् फल देने वाली और सम्यक् जीवन निर्वाह करने वाली है। वेद ऋषि जलों के महत्त्व से स्वयं परिचित थे, क्योंकि जल के बिना जीवन सम्भव नहीं है। वेद में कथन है कि पर्यावरण की रक्षा के लिए वनस्पति व वृक्षारोपण अति आवश्यक है। इस परिपेक्ष्य में ऋग्वेद में स्पष्ट कथन है— **‘वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्’**³ पर्यावरण के शुद्धीकरण के लिए वनस्पति उगाना, अग्निहोत्र करना, अग्नि, सूर्यऔषधियों का उपयोग वेद की ही देन है। वायु शोधन के लिए वनस्पतियाँ जरूरी हैं। वायु प्रदूषण से बचाव के लिए वृक्षारोपण अति महत्त्वपूर्ण है। यदि वनस्पतियों को काटना भी हो तो, इस प्रकार से काटे कि उस पर दुबारा से सहस्रों अंकुर आ सकें। **‘अयं हित्वा स्वधितिस्ततिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रूहेम ।।’**⁴ हे वनस्पति तु शतांकुर होकर वृद्धि को प्राप्त कर करे। भूमि, सूर्य, वनस्पति हमारे सौभाग्य के लिए हो। जितनी भी सहस्रों पत्तों वाली औषधियाँ हैं वे सब प्रदूषण जन्य मृत्यु से हमें बचाएँ। पर्यावरण में वायु का महनीय स्थान है। वायु को पिता, भ्राता, मित्र का स्थान प्राप्त हुआ है, जो तत्कालीन वैदिक प्रजा ने अपने आप को वायु प्रदूषण से मुक्त रखने का अप्रत्यक्ष रूप से आग्रह किया है। शुद्ध वायु अमूल्य औषधि के समान है, जो हमारे हृदय के लिये उपयोगी और आनन्द प्रदान करने वाली है। इसके सेवन से आयु में वृद्धि होती है जिस प्रकार आकाश से जल, वर्षा सबको प्राप्त होती है उसी प्रकार सर्वसाधारण का अन्ना, जल, वायु पर भी जन्म सिद्ध अधिकार हो। स्वच्छ वायु अन्तरिक्ष में विकारों की रक्षा करती है। वायु हमारी आन्तरिक व बाह्य पर्यावरण की अशुद्धियों का उन्मेष कर पवित्र करने का प्रयास करती है। यह प्रार्थना भी यजुर्वेद में मिलती है कि हमने दिन और रात्री में जो पाप किये हैं उन पापों का निवारण वायु देव करे वेद में पर्यावरण के संरक्षण की भूमिका का निर्वहन अग्निदेव से कराये गये हैं। अथर्ववेद में कथन है कि द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, विद्युत में प्रविष्ट होकर अग्निदेव विचरण करता है। निरुक्त में अग्नि के पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष अग्नि और सूर्य तीन भेद बताये गये हैं। यहाँ अग्नि को जाग्रत रहने से तात्पर्य ऊर्जा के सदुपयोग से है। यजुर्वेद में प्राकृतिक रूप से विनाशकारी विद्युत अग्नि के सदुपयोग का निर्देश दिया गया है। अग्नि मनुष्यों को पापों से बचाता है। द्यावापृथ्वी की रक्षा करता है। मनुष्य को सन्तान, धन, आयुश्य, मेधा, अभीष्ट लाभ, पोषण अग्नि द्वारा प्राप्त होता है। **‘मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्म तर्पयत.....कृ’**⁵ यहाँ जल मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आत्मा, सन्तान, पशुओं और सहयोगियों को तर्पित करती है। यजुर्वेद में सत्रह प्रकार के जलों को **‘राष्ट्रदा’** सम्बोधन हुआ है। जल की शुद्धता के प्रति प्रजा और शासन दोनों सतर्क रहते थे। जल को दूषित न होने देना तथा दूषित होने पर अनेक प्रकार के उपायों को करके शुद्ध करने का सप्रेत वेद में मिलते हैं। मनुस्मृति में भी कथन है— **‘वस्त्रपूतं जलं पिबेत्’**⁶ पर्यावरण संरक्षण व प्रदूषण को दूर करने के लिए ये तीनों प्रकार की अग्नियाँ सहायक हैं। ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त (10.46) अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त (121) वनस्पति औषधियों की उपयोगिता व महत्त्व के परिपेक्ष्य में

आयी है। यजुर्वेद में यह कामना है—कि ये विकसित हों और यज्ञ की समाप्ति तक या सृष्टि प्रलय तक रहकर मानव को पापों से बचावें। वृक्ष भूलोक व अन्तरिक्ष लोक के लिए हितकर हैं, अतः उनके संरक्षणार्थ वेद ने कहा है कि शतशाखा युक्त होकर फले—फूले जिससे मानव भी अत्यधिक फले—फूले। पृथ्वी की श्यामलता को बनाये रखने के लिए कृषकों के कृषि सम्बन्धी तथ्य भी यहाँ हैं। वन की रक्षा के लिए ‘वनप’ और दावानल की रक्षा के लिए ‘दावप’ अधिकारियों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार तत्कालीन शासन, औषधियों, वनस्पतियों के संरक्षण के लिए सतर्क था। वैदिक—साहित्य में पर्यावरण के संवर्द्धन में यज्ञ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अन्ना का सम्बन्ध ही यज्ञ से है। ‘यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म’ के रूप में कहा गया है। द्रव्यशुद्ध घृत, सुरभिमय व वायुशोधक एवं रोगहरण पदार्थों की यजमान द्वारा अग्नि में आहुति दी जाती है। उसे हम यज्ञ कहते हैं। यह हवि प्रदूषित वातावरण को परिणत कर देती है। यज्ञ से वातावरण के साथ ही वैचारिक शुद्धता भी प्राप्त होती है। यज्ञ का फल चातुर्दिक होता है ‘यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा’⁸ अग्निहोत्र औषधि का कार्य करता है। ‘अग्निः कृणोतु भेषजम्’⁹ अग्नि वायु के दूषक तत्वों का हरण करता है। अग्निहोत्र यज्ञ में अग्नि से आहूत हुई हवि वायुमण्डल के रोगकृमि रूप यातुधानों को नष्ट कर देती है। ‘इदं हविर्यातुधानान् नदी फैनमिवावहत्’¹⁰ भोजन, जल, दुग्ध, अन्न आदि में प्रवेश कर जो रोगवर्धक जन्तु हानि प्रदान करते हैं। इन्हें अग्निहोत्र यज्ञद्वनष्ट कर देता है। अग्निहोत्र अग्नि, जल, मिट्टी, वनस्पति सभी के प्रदूषण दूर करने में सहायक है।

संदर्भः

1. तैत्तरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक
2. अथर्ववेद— 121 / 12
3. ऋग्वेद, 10 / 101 / 11
4. यजुर्वेद, 5 / 9
5. यजुर्वेद, 6 / 31
6. मनुस्मृति 6 / 41
7. शतपथ ब्रह्मण, 1 / 1 / 15
8. यजुर्वेद, 8 / 62
9. अथर्ववेद 8 / 106 / 3
10. अथर्ववेद 7 / 8 / 2

ललित कलाओं में रस का महत्व

नेहा सम्सेना*

साहित्यिक परिधि में रस के स्वरूप के अध्ययन के पश्चात् ललित कलाओं में रस के स्वरूप के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव होती है, जिसके लिये सर्वप्रथम साहित्य और ललित कलाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।¹ मानव अपने विचारों और भावों को दूसरों पर प्रकट करने और दूसरों के विचारों एवं भावों को सुनने और समझने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा है।² उसने जो कुछ सोचा, समझा या अनुभव किया, उसे व्यक्त करने की चेष्टा की, जिसका माध्यम वाणी, चित्रांकन एवं प्रतीकात्मक संकेत आदि कुछ भी हो सकते हैं। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, क्रोध और घृणा आदि मनोविकारों को प्रकट करने में उसे एक प्रकार का संतोष अथवा आनंद का अनुभव होता है।³ यह 'सुखानुभूति' या 'आनंदानुभूति' ही सब ललित कलाओं के मूल में विद्यमान रही है।⁴ अतः मनोविकार ही व्यक्ति अथवा चित्रण का आधार है।

सम्पूर्ण ललित कलाओं को आस्वादन के आधार पर दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है— (1) काव्य के अन्तर्गत—काव्य को भी संगीत कला और (2) दृश्य के अंतर्गत, नृत्य, मूर्ति और चित्रकलाएँ आती हैं।

गीत, वाद्य और नृत्य—तीनों कलाएँ संगीत के अंतर्गत आती हैं।² प्राचीन काल में मानव अपनी भावनाओं को 'नाट्य' के द्वारा अभिव्यक्त करता था। ये नाटक मूक नहीं होते थे। प्रायः उनके संचालन में संगीत की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार संगीत और नाट्य का विकास सम्मिलित रूप से हुआ और संगीत ने भागवत क्रियात्मक मुद्राओं (नृत्य) के अस्तित्व में अपना प्रचलन संभव पाया। डॉ. शुक्ल ने नाट्य को नृत्य का समदर्शी माना है,³ और नाट्य और नृत्य को एक दूसरे का पूरक मानकर कुशल चित्रकार के लिये इन दोनों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है।⁴ तथा नृत्य का विकास केवल आनन्दात्मक—अभिव्यक्ति ही नहीं है वरन् वह मोक्षदायी भी है। यह दर्शन है।

काव्य के समान संगीत, चित्र, नृत्य, मूर्ति एवं स्थापत्य आदि कलाओं में 'आनन्दानुभूति' के जिन नवीन आदर्शों का समावेश होता रहा है, वह 'सौन्दर्य चेतना' के माध्यम से व्यक्त हो रहा है। यह आनन्द समस्त सुख—वृद्धों चेतना को लेकर ही सुख—दुख से परे है। मूर्ति से हमारा तात्पर्य उस मनोमूर्ति या मानसमूर्ति से है, जिसमें रूप, रंग, स्पर्श सभी इन्द्रिय गुण रहते हैं और केवल जिसका साक्षात्कार मानस से होता है।⁶ शिल्पकार अपनी चेतना आवहान और शारीरिक रूप का निरूपण जिन उपकारणों से करता है और उनमें प्रतिमाओं का सृजन प्रमुख है।⁷ अतः प्रतिमाओं के निरूपण में सौन्दर्य तत्व सदैव विद्यमान

*5/9, तपोवन एन्कलेव, सहस्त्रधारा रोड़, देहरादून

रहते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सभी प्रविधाएँ समान रूप में सौन्दर्य तत्व को ग्रहण किये होती हैं क्योंकि इसमें संतुलन परस्पर आश्रित संयोजन और 'विनियुक्त उपादानों का घनत्व'⁸ संगीतकला अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होती है। उसमें, 'लय' का स्थान अक्षुण्ण रहता है।⁹ 'भाव' मूर्तिकला के संचालन का प्राण है, जिसे भी नाट्य और नृत्य के समान मुद्राओं से ही निष्पत्ति की अवस्था प्राप्त होती है।¹⁰ मूर्ति में चित्र के सम्मान रेखाओं के सामन्जस्य स्वरूप आकर्षित दृढ़ता, नाट्य के समान मुद्राओं की स्थापना एवं संगीत के समान लयात्मक संतुलन का समावेश रहता है।¹ यह व्यवस्था सदैव से विद्यमान है। मूर्तिकला में संगीत जीवन—छेद रहता है—वही मूल भावों के संचालन का प्राण है।² जिस संचालन में गति, भंगिमा, छन्द और व्यंजना को रस में परिणित करने वाले मुख्य तत्व हैं।³ लेकिन यह सब स्वाभाविक देह की रूप रेखा के सादृश्य युक्त स्थूल प्रस्तुतिकरण में ही निहित हैं।⁴ इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भाव प्रत्येक ललित कला की अभिव्यक्ति का आधार है। मूर्तिकला और चित्रकला में 'भाव' को ही स्थूल और सूक्ष्म रूप में व्यक्त किया जाता है। यह भाव ही परियाक स्थिति में रस का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

विद्वानों का मत है कि भारत में प्रत्येक कला को धार्मिक भावनाओं के प्रचार हेतु ही जन्म मिला, परन्तु केवल धार्मिक भावनाएँ ही नहीं वरन् कलाकृतियों को अन्य सामाजिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति के अनुकूल से ही विकसित होना पड़ा, जिसका लक्ष्य 'मानसिक सुख' देना था।⁵ चित्रकार अपने चित्र में रेखाओं और रंगों के सौजन्य से जिस सौन्दर्य की उत्पत्ति करता है, उसमें एक मनोहारी संतुलन होता है, जिससे पता चलता है कि यह चित्राकृति प्रकृति का केवल अनुकरण मात्र ही नहीं होता बल्कि किसी विशेष भाव (रस) की अभिव्यक्ति हुआ करती है।⁶ संगीत, अभिनय तथा नृत्य के समान चित्रकला में भी भावनाओं (सेंटीमेंट्स) का सफल स्वरूप भारतीय चित्रसूत्र के आधार पर निश्चित रूप में दिखलाई पड़ता है।⁷ भावनाओं को यर्थाथवादी चित्रण और काल्पनिक चित्रण—दो स्वरूपों के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। 'भाव चित्रण' और 'रस चित्रण' में बहुत अंशों में समानता के आधार पर विद्वानों ने दोनों को कहीं—कहीं एक ही प्रसंग से सम्बोधित किया है। लेकिन यह भ्रम है क्योंकि वास्तव में रस चित्रण भाव चित्रण का परियाक रूप है।⁸ जहाँ भाव चित्रण में रस संचारण (विभिन्न रंगों के योग) की व्याख्या होती है।⁹ वहाँ रस चित्रण में रस निष्पत्ति की व्यवस्था हुआ करती है। रस चित्रण में भाव, आकार, लयात्मक के साथ जीवन छन्दयुक्त रेखाओं का संतुलित प्रयोग बर्तना (मोल्डिंग) और रंग— योजना पर प्रबल बल दिया जाता है¹⁰ क्योंकि मुद्रा अभिनय, सत्य स्वरूप आकृति, लयात्मकता रेखाओं के साथ चमकीले रंगों की संगति होने पर एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है। यही आनन्द चित्रण में रसानुभूति की स्थिति होती है। आकार और रंग का सफल प्रयोग ही चित्रण ही चित्रण में रस सृजन करना है।² 'रस चित्रण' सभी प्रकार के चित्रण में चिर— स्थायी होता है। और वह सबसे उच्च श्रेणी का होता है।³

यहा प्रमाणित सत्य है और जिसको नकारा नहीं जा सकता क्योंकि प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक किसी भी दार्शनिक, चिन्तक और विद्वान ने इतना साहस नहीं किया कि रस सिद्धांत में वर्णित – “सभी कलाएँ ऊपरी आवरण में अभिव्यक्ति की काया है। और प्राण युक्त केवल रस स्थिति से ही होती है।” यह प्रमाण इस बात का संकेत देता है कि प्रत्येक कला का प्राण रस है, जिसके अभाव में वहा कला प्राणहीन अथवा क्रियाशून्य मानी जाती है। अतः सभी ललित कलाओं में रस की अवधारणा समान होते हुये भी अभिव्यक्ति के कारणों की भिन्नता और माध्यमों की भिन्नता के कारण प्रक्रिया में अंतर रखती है लेकिन आध्यात्मिक सिद्धांत में समान हैं।

1. **Dr. D. N. Shukla, Shilpa Shastra page : 242**
Poetry, Dance, Drama, Music and painting all these fine arts are Interrelated like kiths and kins."
2. बाबू गुलाब रॉय, सिद्धान्त और अध्ययन पृष्ठ : 50
3. डॉ. भगीरथ मिश्रण काव्यास्त्र पृष्ठ : 21
4. **Dr. G.P.; Malalasekera, Dictionary of pali***
1. भरत मुनि, नाट्यशास्त्र, अष्टाध्याय, पृष्ठ : 71
2. लक्ष्मी नारायण गर्ग, कथक नृत्य (संगीत कार्यालय) हाथरस पृष्ठ : 17.
3. **Dr. D.N. Shukla, Shilpa shastra page : 242**
"Natya is entirely an emotional approach to the art of dancing."
4. श्री विष्णुधर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र (10—1.3 और 5 पलोक)
5. 'यो नृत्यति प्रेष्टाम्या भाव रैत्यन्त भविततः ।
सन्निदहति पापनि जन्मान्तर शतैरपि ।'
6. डॉ.हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला पृष्ठ : 137
7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृष्ठ : 136
8. **E. O. I. A. Vol. - 1, Pt.- II, Ch.- 12 II, page : 36**
9. स्वर्ण किरण, खण्ड— 2 पृष्ठ : 2244
10. टी. पी. भट्टाचार्य, दि कैनन्स ऑफ इण्डियन आर्ट पृष्ठ : 408
11. रॉयकृष्ण दास, भारत की चित्रकला, पृष्ठ : 71
12. आचार्य जिनसेन प्रणीत, हरिवंश पुराण का संगीत विवरण संगीत, अप्रैल, 1967 पृष्ठ : 17
13. समरांगण सूत्रधार— 2, अध्याय— 55, पलोक—11
14. डा. महादेव शाह, कला अंक, सम्मेलन पत्रिका वाराणासी पृष्ठ : 416
15. श्री असित कुमार हल्दर, ललित कला की धारा, पृष्ठ : 17
16. टी. एन. गोपीनाथ राय, पेंटिंग्स इस ऐसिएंट इण्डिया, मार्डन रिव्यू
वाल्जुम—14, 1918

17. श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र 3.43.1
18. श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण, परशिष्ट- चित्रसूत्र (43.1.36)
19. सद्रवैधर्णं फैलिख्यं रस चिश्विलक्षणे :113.94211 (मानसोल्लास)
10. श्री विष्णु धर्मोत्तार पुराण, परशिष्ट – चित्रसूत्र (3.40.10)
“रेखा चश्वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च ।।
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ।। 10 ।।”
11. उत्तर प्रदेश पत्रिका, फरवरी, 1979, अंक-9 पृष्ठ : 4
12. टी. पी. भट्टाचार्य, दि कैनन्द ऑफ इण्डियन आर्ट पृष्ठ : 460
13. “रसोवेस : रस हृदेवायलवत्वा नन्दीभवति : ।”
तैत्तिरीय उपनिषद, 2.7.1

प्रेमचंद का राष्ट्रवाद और आम आदमी

वर्षा गुप्ता*

राष्ट्रवाद का विकास पूँजीवाद के प्रसार और उसकी विश्वव्यापी औपनिवेशिक आकांक्षा से मृणालनाभि संबंध रहा है। यह सच है कि युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रों की अंतर्वस्तु एक ही होती है। पूँजीवाद की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने 'राष्ट्रवाद' नाम के ऐसे नुस्खे का आविष्कार किया था जो हर 'मर्ज' की दवा थी। 'राष्ट्रवाद' के नाम पर राष्ट्र के अंदर किसी भी विभेद, विषमता और असहमति को नजरअंदाज करते हुए पूँजी के प्रच्छन्न-हित में सभी राष्ट्रवासियों को जान तक देने तक के लिए पूँजीवाद आसानी से प्रोत्साहित करता था। 'राष्ट्रवाद' ऐसी दुधारी कटार थी जिससे पूँजी देश के अंदर भी अपना हित साधता थी और बाहर भी। 'राष्ट्रवाद' मनुष्य को अंधा बनाने का ही उपाय था। जो दूसरे को अंधा बनाने की 'परियोजनाओं' पर काम करता है, उसके खुद के अंधा बनते ही कितनी देर लगती है। युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रों की अंतर्वस्तु एक ही होती है। राष्ट्रवाद की अंतर्वस्तु के इस्तेमाल में राष्ट्रों की मुक्ति के लिए किये जाने की भी गुंजाइशें थी। यह ध्यान में है कि राष्ट्रवाद का कोई एक ही स्तर नहीं था। उसके भीतर सामाजिक हित और व्यक्तिगत स्वार्थ की कई परस्पर अंतर्घाती अंतर्धराएँ सक्रिय थी। प्रेमचंद की यह मान्यता थी कि जातिभेद की जड़ में मट्ठा डाले बिना राष्ट्रवाद का असली तत्व नहीं पाया जा सकता है। राष्ट्रवाद का सामने मुख्य चुनौती थी अपने देश को पाने की। इस राष्ट्रवाद में आये भटकाव के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सावधान करते हुए कहा कि 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश की मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'

प्रेमचंद के राष्ट्रवाद को समझाने के लिए कुछ प्रमुख सूत्रों को रेखांकित कर समझा जा सकता है, जैसे प्रेमचंद की पश्चिम के प्रति क्या अवधारणा है। इसी क्रम में पश्चिमी राष्ट्रवाद के बारे में प्रेमचंद की सोच और भारतीय राष्ट्रवाद में उसकी भिन्नता पर विचार करेंगे। उत्तर आधुनिकता का दौर समाप्त हो चुका है और सयाने लोगों ने इस जहाज को छोड़ दिया है लेकिन आधुनिकता के बौद्धिक आतंक और वर्चस्व को तोड़ने में इसकी भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। पश्चिम के ज्ञान मीमांसात्मक वर्चस्व को उत्तर आधुनिक चिंतकों से बहुत पहले गांधी जी ने चुनौती दी थी। गांधी जी ने तो यहाँ तक कहा था कि सबसे अच्छा तो यह होता कि भारत पश्चिम को पूरी तौर पर नकार देता। गांधी जी की दृष्टि में राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य सिर्फ राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना नहीं है। पश्चिम की 'शैतानी सभ्यता' से मुक्ति ही राष्ट्रीय आंदोलन का चरम ध्येय है। अपनी इस मान्यता पर वे

*शोध छात्रा हिन्दी विभाग, माधव महाविद्यालय, ग्वालियर(म.प्र.)

अंतिम दिनों तक अडिग रहे। गाँधी पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों से इस मायने में अलग हैं कि उन्होंने पश्चिम और पश्चिम से आने वाली किसी भी विचारधारा को पूरी तौर से स्वीकार नहीं किया। उनका इरादा पूर्व को पश्चिम का वर्णसंकर (हाइब्रिड) बनाने का नहीं था। वैसे भी यह वर्णसंकरता सिर्फ दिखाने की वर्णसंकरता थी। इसमें पूर्व का रंगरोगन भले ही दिख जाय लेकिन इसका मूल पश्चिमी था। पश्चिम से इसकी भिन्नता ने किसी गुणात्मक रूप से भिन्न चीज को जन्म नहीं दिया। गांधी की तरह उन्होंने पश्चिम की लगभग हर बात का निषेध भले ही न किया गया हो, लेकिन चूँकि उनकी जड़ें भारतीय गाँवों में थीं और उन पर गाँधी जी का गहरा असर था, इसलिए उन्होंने पश्चिम की हर बात को सही भी नहीं माना। सबसे पहले यह देखना दिलचस्प होगा कि उन्होंने पश्चिम को किस रूप में देखा। पश्चिम को देखने के उनके ढंग से यह भी अनुमान लगता चला जाएगा कि पूर्व के बारे में उनका नजरिया क्या है। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया था, हम उस सैद्धांतिकी को अस्वीकार करते हैं जिसके मुताबिक प्रेमचंद के अंतिम दौर के लेखन को उनके पूर्ववर्ती लेखन पर तरजीह दी जाती है। आखिरी दौर के लेखन को तरजीह इसलिए दी जाती है क्योंकि सत्य के आधुनिकता द्वारा अनुमोदित निष्कर्ष के यह सबसे करीब पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो हम उसे भी नकार देते। अरविंदो और सावरकर के प्रारंभिक दौर का लेखन कुछ लोगों की दृष्टि में ज्यादा सार्थक है। यही बात इकबाल के बारे में भी कही जाती है। इकबाल, अरविंदो और सावरकर के पूर्ववर्ती लेखन को तरजीह दी जाती है और परवर्ती लेखन को 'विचलन' के रूप में देखा जाता है।

सबसे पहले प्रेमचंद के पश्चिम को देखने के नजरिये पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। पश्चिम के प्रति प्रेमचंद के नजरिए पर तत्कालीन बौद्धिक चिंतन का प्रभाव तो है ही लेकिन उन पर सबसे गहरा प्रभाव गांधी का है। उन्होंने लिखा है कि—“हमने बंदरों की तरह पश्चिम वालों की नकल शुरू की और अभी तक करते जा रहे हैं.....महात्मा गांधी ने आकर उन बिखरी हुई आकारहीन भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया और यूरोप की बुराइयाँ हमें नजर आने लगीं।” ऐसा नहीं है कि गाँधी से पहले यूरोप की बुराइयाँ किसी को दिखी ही न हो, लेकिन गाँधी जैसी दृढ़ता के साथ आधुनिकता की ज्ञान मीमांसात्मक परम्परा को चुनौती देनेवाला कोई नहीं दिखता; अरविंदो और विवेकानंद भी नहीं। यूरोप के इतिहास का चरम ध्येय राष्ट्र राज्य है, और यह राष्ट्र राज्य अंतर्वाहय संघर्षों के अंतहीन सिलसिले का दूसरा नाम है। योरोपीय सभ्यता की तथाकथित विशेषताएँ एकता, अनुशासन, नेतृत्व के प्रति आज्ञाकारिता और राष्ट्रहित में आत्म बलिदान, संघर्ष के लंबे इतिहास का प्रतिफल है। इसी में आगे वह विचारधारा जुड़ गई जिसका जन्म धन प्रेम और संपत्ति अधिकारों के बीच हुआ था। पश्चिमी सभ्यता की मूलभूत विशेषताएँ दो हैं— व्यक्तिवाद और स्वार्थपरता। मशीन से मनुष्य के जीवन को सुगम बनाने के बजाय मजदूरों को अपना दास बना डाला है और बाजार तथा एकाधिकार की अंतहीन चाहत को जन्म दिया है, जिसकी परिणति युद्ध, विजय और नरसंहार में हुई है। यूरोप के समतावादी आदर्श भी इस प्रदूषण से मुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनका जन्म स्वार्थ और लालच की विचारधारा की प्रतिक्रिया में हुआ है और वे मनुष्यता की इस समस्या के समाधान के लिए हिंसा से बेहतर कोई विकल्प नहीं देते।

प्रेमचंद एक ऐसे भारत की कल्पना करते हैं जो पश्चिम से तात्विक और बुनियादी रूप से भिन्न है। तात्विक (एशेनशियलिस्ट) और बुनियादी भिन्नता की बात करना उत्तर आधुनिक दौर में भले ही गुनाह रहा हो लेकिन उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन की इसके बिना कल्पना भी कर पाना आसान नहीं। तात्विक और बुनियादी भिन्नता की बात वही कर सकता था जो आधुनिकता की ज्ञान मीमांसा को पूरी तौर पर खारिज करता। गांधी की तरह प्रेमचंद भारतीय सभ्यता के सकारात्मक वैकल्पिक जीवन मूल्यों को देख सकते थे, जिन्हें औपनिवेशिक आधुनिकता में पगी आँखें नहीं देख पाती थी। उनके पास वह 'क्रिटिकल स्पेस' था जहाँ से वे दोनों की खूबियाँ और खामियाँ देख सकते थे। चूँकि पश्चिमी सभ्यता का इस समय समूची दुनिया पर वर्चस्व है, इसलिए हमें पश्चिम से अच्छाई ही अच्छाई और अपने यहाँ बुराई ही बुराई दिखती है। जो जीता वही सिकंदर की तर्ज पर क्या यह कहना ठीक है कि पश्चिमी सभ्यता भारतीय सभ्यता से श्रेष्ठ है? प्रेमचंद के सामने भी यह सवाल था और उसका उन्होंने जो जवाब दिया उस पर गौर करने की जरूरत है "देशों को जीत लेना और चीज, ऊँची सभ्यता और चीज है। इटली ने निम्नस्तर की सभ्यता रखते हुए भी यूनान को जीत लिया जो उस जमाने में सभ्यता के उच्चतर शिखर पर पहुँचा था। सभ्यता और हिंसा भावनाओं का बैर है। बर्बर कौमों सभ्य कौमों के मुकाबले ज्यादा लड़ाकू और जान पर खेलने वाली होती है। पश्चिमी सभ्यता की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसने बर्बर कौमों की विशेषताओं को सभ्यता के गंभीर प्रभाव से बचाए रखा। खुलासा यह कि हिंदुस्तानी सभ्यता की बुनियाद धर्म और नेकी पर थी जबकि पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद लाभ और ईर्ष्या पर है।"

उस दौर के अन्य लेखकों विचारकों की तरह प्रेमचंद के लिए भी पश्चिम एक चुनौती था और अपने वैचारिक लेखन में पश्चिम द्वारा फेंकी गई चुनौती का वे जवाब देते हैं : "विजय और सफलता के आधार पर किसी सभ्यता को श्रेष्ठ नहीं ठहराया जा सकता। पराजित होकर भी भारतीय सभ्यता पश्चिमी सभ्यता से श्रेष्ठ है। क्योंकि भौतिकता पश्चिमी सभ्यता की आत्मा है। अपनी जरूरतों को बढ़ाना और सुख सुविधा के लिए आविष्कार इत्यादि करना, अपने नफे के लिए दूसरों के जान माल की परवाह न करना यही पश्चिमी सभ्यता की विशेषताएँ हैं। जीवन के हर क्षेत्र में व्यापार के नियम को लागू करना और नफे या नुकसान के ख्याल को एक क्षण के लिए आँख से ओझल न होने देना, यह पश्चिमी सभ्यता के लक्षण हैं।" प्रेमचंद भारतीय सभ्यता की सभी बातों की आँख मूँद कर तारीफ करने वालों में न थे, फिर भी उन्होंने पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता की भारतीय सभ्यता से बेहतर नहीं माना। भारतीय सभ्यता की कर्मियों का समाधान उन्हें पश्चिमी व्यावसायिक सभ्यता में नहीं दिखा। वे लिखते हैं— "हम नहीं कहते कि वह पुरानी बातें सबकी सब तारीफ करने के काबिल हैं, मगर वह कितना ही बुरा क्यों न हो और कितने ही ताने उसे क्यों न दिए जाएँ, नई स्वार्थपरता, घमंड और आडंबर से कई गुना अच्छा है।" प्रेमचंद ने पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता के विपरीत भारतीय सभ्यता की एक सकारात्मक छवि प्रस्तुत की है। भारतीय सभ्यता की खामियों से वे वाकिफ थे और उसकी आलोचना भी करते थे। लेकिन कुल मिला कर पश्चिम की व्यावसायिक

सभ्यता के मुकाबले उन्हें भारतीय सभ्यता बेहतर लगती थी और आखिरी दौर में भी उनके इस विश्वास में कोई बदलाव नहीं दिखाई पड़ता। आगे बढ़ने से पहले, आइए देखे कि प्रेमचंद की नजर में भारतीय सभ्यता की विशेषताएँ क्या थीं। प्रेमचंद ने लिखा है कि गांधी ने समझाया तो भारत की अच्छाइयाँ समझ में आने लगीं। पहले महसूस तो होती थीं लेकिन... गांधी ने पौरुष प्रधान, आक्रामक और वर्चस्व वासना से ग्रस्त आधुनिकता को सभ्यताओं के निकश मानने से इनकार कर दिया और यह बताया कि कोमलता और सहजता, त्याग और क्षमा, करुणा और पर दुःखकातरता दुर्गुण नहीं गुण है। आधुनिकता का जवाब आधुनिकता के निकश पर देने के बजाय उन्होंने भारतीय सभ्यता की सकारात्मक उपलब्धियों के आधार पर उपनिवेशवाद को चुनौती दी। इसीलिए उनके राजनीतिक विमर्श में आक्रामक हिंसा की जगह विनम्रता, वर्चस्व वासना की जगह त्याग और संयम, आत्म की जगह अन्य, अतिशय भोग की जगह इंद्रिय निग्रह, मशीन की जगह मनुष्य, शहर की जगह गाँव, ज्ञान की जगह प्रेम और करुणा को वरीयता दी गई है। प्रेमचंद भारतीय सभ्यता की विशेषताओं का जिक्र करते समय अक्सर पश्चिम को सामने रखते हैं, आधुनिक आलोचना की भाषा में कहें तो द्विआधारी विरोधों की रचना करते हैं। जैसे—“हमारी सभ्यता कहती है कि अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ ताकि तुम्हारी जात से कुटुम्ब या परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ, चाहे उसके लिए दूसरे की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने लिए ही जिओ और अपने लिए ही मरो।”

प्रेमचंद के सपनों का स्वतंत्र भारत व्यावसायिक योरोप की प्रतिकृति नहीं होगा बल्कि उससे भिन्न होगा। यह सही है कि प्रेमचंद गाँधी के विचारों के यथावत अनुवादक नहीं हैं, लेकिन गाँधी के विचारों का प्रभाव उन पर बहुत गहरा है, इसे सिर्फ सत्याग्रह और हृदय परिवर्तन तक सीमित कर देना ठीक नहीं। आखिरी दौर में साम्यवाद के प्रति उनका आकर्षण कदाचित् इसीलिए बढ़ा क्योंकि साम्यवाद में उन्हें पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता का विकल्प नजर आया। पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता को उन्होंने भारतीय सभ्यता के विकल्प के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता की बुनियाद में विज्ञान का अभूतपूर्व विकास है। विज्ञान के विकास के बिना न तो राष्ट्र राज्य की कल्पना संभव थी और न ही उपनिवेशवाद की। पश्चिम का अन्य सभ्यताओं पर सबसे बड़ा आक्षेप यही था कि वे विज्ञान और राष्ट्र राज्य की अवधारणा का विकास करने में असफल रही। गांधी विज्ञान के विकास के साथ आनेवाली खामियों का जिक्र करते हुए बताते हैं कि चाहते तो हम भी विज्ञान का वैसा विकास कर सकते थे लेकिन हम जानते थे कि उसके साथ खामियाँ भी आएँगी, इसलिए हमने जान-बूझकर विज्ञान का विकास नहीं किया। गाँधी की तरह प्रेमचंद भी पश्चिम की इस वैज्ञानिक औद्योगिक प्रगति की आलोचना करते हैं।

प्रेमचंद भारत में राष्ट्र के अभाव को लेकर चल रही बहस से परिचित थे। रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा की गई राष्ट्रवाद की अवधारणा में निहित संकीर्णता की भावना की आलोचना से भी वाकिफ थे। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में राष्ट्रवाद, की सकारात्मक भूमिका के हिमायती

होने के बावजूद वे राष्ट्रवाद, खासतौर पर पश्चिमी राष्ट्रवाद की प्रकृति और अंतर्विरोधों को अच्छी तरह समझते थे। गाँधी की तरह उनके चिंतन को भी राष्ट्रवाद की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। उनके राष्ट्र संबंधी चिंतन से आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। प्रेमचंद ने यह दिखाया कि आधुनिक किस्म का राष्ट्रवाद योरोप की ईजाद है लेकिन यह वरदान नहीं अभिषाप है। प्रेमचंद ने राष्ट्रवाद का जिस गहराई से विश्लेषण किया है उसके सामने समकालीन उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों का लेखन भी फीका लगने लगता है। लिखते हैं “राष्ट्र एक मानसिक प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तो किसी प्रांत या देश के निवासियों में भातृभाव पैदा हो जाता है। प्राचीनकाल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था कि उसकी संस्कृति एक थी।.....परंतु राजे सैकड़ों हजारों थे, उनमें बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। उनके स्वार्थ अलग थे। वर्तमान राष्ट्र का विकास न हुआ था।.....वर्तमान राष्ट्र योरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप।इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रखा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं। यह सारे अनर्थ इसलिए हो रहे हैं कि धन और भूमि की तृष्णा ने राष्ट्रों को चक्षुहीन सा कर दिया है। प्राणीमात्र को भाई समझने वाला ऊँचा और पवित्र आदर्श इस राष्ट्रवाद के हाथों ऐसा कुचल गया कि अब उसका कहीं चिह्न भी नहीं रहा।”

प्रेमचंद को यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हुआ कि भारत में सांस्कृतिक एकता तो थी, लेकिन राजनीतिक रूप से राष्ट्र के रूप में वह संगठित नहीं था। वर्तमान राष्ट्र यूरोप की ईजाद है और साम्राज्यवादी संघर्ष और लूटखसोट का आधार भी है। बकौल प्रेमचंद—“जैसे डाकू बाहर लूट पाट कर अपना घर भरता है वैसे ही राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र से बाहर का संसार उसका शत्रु है।” जैसे गांधी को पश्चिमी शिक्षा की उपयोगिता में यकीन नहीं था वैसे ही प्रेमचंद अनेक प्रकार की ‘अस्वाभाविकताओं’ का कारण पश्चिमी शिक्षा को मानते थे। राष्ट्रीयता का रोग भी इसी शिक्षा का फल है, जो शिक्षित जनों का लगा हुआ है। लिखते हैं “आज भी राष्ट्रीयता का रोग उन्हीं लोगों को लगा हुआ है जो शिक्षित हैं, इतिहास के जानकार हैं। वे संसार को राष्ट्र के रूप में ही देख सकते हैं। संसार के संगठन की कल्पना उनके मन में आ ही नहीं सकती। जैसे शिक्षा से कितनी ही अस्वाभाविकताएँ हमने अंदर भर ली हैं, उसी तरह इस रोग को पाल लिया है।”

आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय और विस्तार का नतीजा यह हुआ कि जो सभ्यताएँ राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं थीं, वे उसके अत्याचारों का क्षेत्र बन गईं। उपनिवेश में तब्दील हो गईं। प्रेमचंद ने लिखा है कि “जो अराष्ट्र’ प्रदेश इस राष्ट्र के हाथों बंदी हुआ, उसका जीवन निराशा अपमान की भेंट चढ़ जाता है।नारी व्यक्ति स्वातंत्र्य का बुलंद किया जाता है लेकिन सच तो यह है कि राष्ट्र ने व्यक्ति को मिटा दिया, व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र या स्टेट में समाहित हो गया।” जैसे राष्ट्रवाद के विकास को प्रेमचंद ने कोई बड़ी उपलब्धि नहीं माना वैसे ही राष्ट्रीयता के प्रश्न को सनातन प्रश्न नहीं माना। कुल मिलाकर यह है कि

“संसार का कल्याण तभी हो सकता है जब संकुचित राष्ट्रीयता का भाव छोड़कर व्यापक अंतर्राष्ट्रीय भाव से विचार हो।”

विज्ञान और राष्ट्रवाद के विकास के साथ लोकतंत्र का विकास भी जुड़ा है। लोकतंत्र के विकास को भी पश्चिमी सभ्यता की महान उपलब्धि के रूप में प्रचारित किया जाता था। गाँधी की तरह प्रेमचंद भी लोकतंत्र की महानता के कायल नहीं हो पाए। लिखते हैं कि “डेमोक्रेसी केवल एक दलबंदी बन कर रह गई। जिसके पास धन था, जिनकी जबान में जादू था, जो जनता को सब्जबाग दिखा सकते थे, उन्होंने डेमोक्रेसी की आड़ में सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद उस सामूहिक स्वार्थपरता के भयंकर रूप थे जिन्होंने संसार को गुलाम बना डाला और निर्बल राष्ट्रों को लूट कर अपना घर भरा और आज तक वही नीति चली आ रही है। डेमोक्रेसी की इन दो सदियों में संसार में जो अनर्थ हुए, वह एकाधिपत्य की असंख्या सदियों में न हुए थे। अपने राष्ट्र के लिए डेमोक्रेसी चाहे जितनी मंगलमय सिद्ध हुई हो, पर संसार की दृष्टि से तो उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिस पर वह गर्व कर सके।”

पश्चिमी राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद की आलोचना करने के दौरान प्रेमचंद ने यह दिखाया था कि जो समाज राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं थे उनके सामने आत्मरक्षा के लिए स्वयं को राष्ट्र के रूप में संगठित करने के सिवा और कोई विकल्प नहीं था। इसलिए इस बात पर जोर देना जरूरी था कि “भारत एक राष्ट्र है अन्य राष्ट्रों की भाँति अनेक भेदों के होते हुए भी एक राष्ट्र है। धर्म और संस्कृति के अलग होने पर भी एक राष्ट्र है।” भारत के एक राष्ट्र होने पर जोर देना जरूरी था क्योंकि पश्चिमी राष्ट्रों के वजन पर भारत को राष्ट्र कहना मुश्किल था। इस बात का प्रचार भी किया जाता था कि इतनी भिन्नताओं के रहते भारत का एक राष्ट्र के रूप में संगठित होना कठिन है। उपनिवेशवाद का मुकाबला करने के लिए स्वयं को राष्ट्र के रूप में संगठित होना कठिन है। उपनिवेशवाद का मुकाबला करने के लिए स्वयं को राष्ट्र के रूप में संगठित करना एक ऐसा आपद्धर्म था जिसमें समाज के प्रायः सभी वर्गों को एकजुट करने की जरूरत थी। भिन्नता पर जोर देने से ज्यादा एकता का महत्व समझाने की जरूरत थी। उपनिवेशवाद ने अपनी मर्जी से, सदिच्छा से, कुछ भी नहीं दिया। इसीलिए भिन्नता के नाम पर एकता को कमजोर करने की किसी भी कोशिश का उन्होंने समर्थन नहीं किया।

राष्ट्रीयता के उत्थान के लिए प्रेमचंद जातिभेद के खात्मे को पहली शर्त मानते थे। लिखा है “राष्ट्रीय की पहली शर्त वर्ण व्यवस्था, ऊँच नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।” प्रेमचंद अब एक ऐसे राष्ट्र की कल्पना कर रहे थे, जिसके केंद्र में किसान और मजदूर थे “हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें जन्मगत वर्णों की तो गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा या सभी हरिजन।” आगे उन्होंने स्वराज को और भी साफ शब्दों में परिभाषित किया है : “हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कई अधिक घातक है।”

स्पष्ट है कि प्रेमचंद के राष्ट्रवाद की परिकल्पना केवल देशप्रेम के परम्परागत चौखटे में बंधी हुई नहीं है। उसके केन्द्र में आम आदमी की भागीदारी और आम जन के कल्याण की भावना अनुस्यूत दिखाई देती है। उनका चिंतन गाँधी के चिंतन से काफी मेल खाता है। वे भी गाँधी की तरह सर्वजन हिताय के हिमायती बनकर उभरते हैं। अंतर केवल इतना है कि गाँधी जी राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्ति होने के कारण शासन व्यवस्था की चिंताओं में अधिक संलिप्त दिखाई देते हैं जबकि प्रेमचंद ग्राम्य परिवेश के भावुक लेखक होने के कारण सर्वहारा की समस्याओं के पक्षकार बनकर उभरते हैं। निदर्शन बतौर 'गोदान' उपन्यास और 'ईदगाह' जैसी कहानियाँ ही पर्याप्त हैं प्रेमचंद की इस वैचारिकी को समझने के लिए।

संदर्भ एवं पादटिप्पणियाँ

1. विविध प्रश्न—3, पृ. 171
2. विविध प्रश्न—3, पृ. 182
3. विविध प्रसंग—3, पृ. 174—175
4. विविध प्रसंग—3, पृ. 263
5. मानसिक पराधीनता, विविध प्रसंग द. एक, पृ. 139, जनवरी 1931
6. विविध प्रश्न— दो,पृ.11, अक्टूबर, नवंबर, 1932
7. वि.प्र.—दो, पृ. 334, 27 नवंबर, 1933
8. वि.प्र.—दो, पृ. 334—335, 27 नवंबर, 1933
9. वि.प्र. दो, पृ. 261
10. वि.प्र.—दो, 1933
11. वि.प्र —3, पृ. 326, दिसंबर, 1933
12. वि.प्र.—दो, पृ. 387, अक्टूबर 1932
13. वि.प्र.—दो, पृ. 47 8 जनवरी 1934
14. वही, पृ. 473
15. वही, पृ. 476

जाति : एक व्यवस्था से वाद के रूप में

डॉ० अरुण कुमार*

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र में स्तरीकरण के प्रमुख स्वरूप के रूप में स्थापित जाति-व्यवस्था, उसकी संरचनात्मक तथा संस्थात्मक विशेषताओं तथा उसके प्रकार्यात्मक पक्ष एवं समाज के प्रति उसकी उपयोगिताओं को स्पष्ट किया गया है। जाति के एक प्रकार्यात्मक संस्था से जातिवाद के रूप में परिवर्तित होने को भी लेख में विश्लेषित किया गया है। जातियों में एक विशिष्ट वर्ग-चेतना का उदय हो रहा है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपनी जाति-विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने हेतु प्रेरित होता है तथा अपनी जाति के हितों को सर्वोपरि समझता है। जातिवाद की यह भावना राजनीति, व्यवसाय, नौकरियों आदि सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर चुकी है। इस प्रकार परम्परागत स्वरूप कमजोर होने के बावजूद जाति, जातिवाद के रूप में और अधिक मजबूत होकर उभर रही है।

मुख्य शब्द

वर्ग-चेतना, स्तरीकरण, संरचना, प्रकार्य, बंदवर्ग, वंशानुक्रम, अंतर्विवाह, संस्तरण, बहु-समाज, जजमानी-व्यवस्था, समूह-प्रकृति, निर्योग्यतायें तथा विशेषाधिकार स्तरीकरण की व्यवस्था प्रत्येक समाज में पायी जाती हैं, यद्यपि स्थानीय परम्पराओं, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों, राजकीय नीतियों और आवश्यकता के अनुसार स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह स्तरीकरण किसी समाज में स्थायी रूप ले लेता है, जिसमें हजारों वर्षों तक कोई परिवर्तन कठिनता से ही हो पाता है — जैसा कि भारत में। स्तरीकरण का स्थायी स्वरूप प्रमुख रूप से जाति पर आधारित सामाजिक संरचना से संबद्ध है। जाति से संबंधित कोई भी विवेचन करते समय भारत की जाति-व्यवस्था हमारा प्रमुख आधार होती है। ऐसा नहीं कि जाति-व्यवस्था केवल भारत में ही पायी जाती है बल्कि भारत में जाति-प्रथा का एक व्यापक और चरम रूप देखने को मिलता है। प्रस्तुत लेख में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग करते हुए, जाति का एक सामाजिक व्यवस्था से लेकर एक वाद के रूप में परिवर्तन का विश्लेषण किया गया है।

भारत में जाति-व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है — भारतशास्त्रीय, समाज-मानवशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय। भारतशास्त्रियों ने जाति का अध्ययन धर्मग्रंथीय दृष्टिकोण से किया है, समाज-मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक तथा समाजशास्त्रियों ने स्तरीकरण के दृष्टिकोण से किया है। धर्मग्रंथीय दृष्टिकोण के अनुसार 'वर्ण' की उत्पत्ति विराट पुरुष ब्रह्मा से हुई है तथा जातियाँ इसी वर्ण-व्यवस्था के भीतर खण्डित इकाइयाँ हैं। वास्तव में, जाति एक जटिल व्यवस्था है, जिसमें व्यवहार के बहुत से नियमों का समावेश है। **हट्टन** का कथन है कि 'जाति' विषय में लगभग पाँच हजार

*सहायक प्रोफेसर समाजशास्त्र विभाग राजकीय महाविद्यालय, मॉट, मथुरा

प्रकाशन हो चुके हैं और इस कारण जाति के संपूर्ण अध्ययन के लिये 'विशेषज्ञों की एक सेना' की आवश्यकता होगी।' शाब्दिक दृष्टि से 'जाति' अथवा 'Caste' शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली शब्द 'Casta' से मानी गई है, जिसका अर्थ प्रजाति या नस्ल है। जाति को संस्कृत शब्द 'जातः' (जन्म) के भी निकट माना जा सकता है। अर्थात् जाति प्रणाली प्रजाति अथवा जन्म पर आधारित एक व्यवस्था है। एक इकाई के रूप में **मजूमदार एवं मदन** ने जाति को 'एक बंद वर्ग'² माना है जिसमें व्यक्ति की स्थिति में कोई परिवर्तन संभव नहीं। **कूले** ने जाति को 'पूर्णतः वंशानुक्रम पर आधारित वर्ग'³ माना है। उनके अनुसार, व्यक्ति को जन्म से एक विशेष जाति की सदस्यता ही प्राप्त नहीं होती बल्कि सामाजिक स्थिति का हस्तांतरण भी पिता से पुत्र को होता रहता है, जिसमें आजीवन कोई परिवर्तन संभव नहीं। **हॉबल** के अनुसार, "अंतर्विवाह तथा आनुवांशिक पद के द्वारा सामाजिक वर्गों को एक स्थायी रूप दे देना ही जाति है।"⁴ **मिशेल** ने जाति-व्यवस्था के लगभग सभी पक्षों को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, "जाति व्यवस्था धार्मिक विश्वासों पर आधारित एक ऐसे आनुवांशिक संस्तरण, अंतर्विवाही तथा व्यवसायिक समूह की ओर संकेत करती है, जिसमें अनेक कर्मकाण्डों, तथा संस्कारों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को पूर्व-निर्धारित करके इनमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन पर नियंत्रण लगा दिया गया है।"⁵ डॉ० एन०के०दत्त⁶ तथा डॉ० जी०एस० घुरिये⁷ ने जाति को कुछ संरचनात्मक एवं संस्थात्मक विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है, जिनमें समाज का खण्डात्मक विभाजन, ऊँच-नीच का संस्तरण, व्यवसाय की आनुवांशिक प्रकृति, खान-पान एवं सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध, विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध तथा विभिन्न जातियों की सामाजिक एवं धार्मिक नियोग्यतायें एवं विशेषाधिकार प्रमुख हैं। **वेस्टरमार्क** ने अंतर्विवाह की विशेषता को 'जाति व्यवस्था का सार तत्व' माना है।

भारत में जाति-व्यवस्था का निर्माण एक उपयोगी सामाजिक संस्था के रूप में किया गया था। **हर्टन** ने जाति व्यवस्था द्वारा किये जाने वाले कार्यों को तीन भागों में बाँटा है — सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य, जातीय समुदाय के लिए कार्य और समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति के कार्य।⁸ व्यक्ति के लिए कार्यों में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण, वैवाहिक समूह का निर्धारण, निश्चित परम्परागत पेशा, व्यक्तिगत व्यवहारों पर नियंत्रण तथा सामाजिक-मानसिक सुरक्षा प्रमुख है। **किंग्सले डेविस** ने जाति-व्यवस्था के महत्व को दर्शाते हुए लिखा है कि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत "प्रदत्त पदों की व्यवस्था

1). J.H. Hutton, 'Caste in India'.

2). Majumbar & Madan, 'An Introduction to Social Anthropology' p. 211

3). C.H. Cooley, 'Social Organisation', p. 11

4). Hoebel, 'Man in the Primitive World', p.325

5). G.D. Mitchell, 'Dictionary of Sociology', p. 182

6). N.K. Dutt, 'Origin and Growth of Caste in India', p.15

7). G.S. Ghurye, 'Caste and Class in India', p.2-27

व्यक्ति में सुरक्षा की वह भावना उत्पन्न करती है जो अर्जित पदों की स्थिति में किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।⁸ जाति व्यवस्था स्वयं विभिन्न जातियों के लिए भी कुछ कार्य करती है जिनमें प्रत्येक जाति की जातीय-संस्तरण में एक सामाजिक स्थिति निश्चित करना प्रमुख है। इस सामाजिक स्थिति के निर्धारण के फलस्वरूप विभिन्न जातियाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर अपने-अपने कार्यों की दृष्टि से एक दूसरे की सहायक होती हैं। **मजूमदार एवं मदन** के अनुसार, “सामूहिक प्रयत्न और आंदोलन के लिए सामान्य संगठन के निर्माण द्वारा, स्वयं की जाति व्यक्ति के लिए गतिशीलता के अवसर बढ़ाती है।” इसके अतिरिक्त, एकता के सूत्र में बाँधना, संस्कृति की रक्षा एवं उसे स्थिर बनाये रखना, अन्तर्विवाह के माध्यम से सुप्रजन्म की शुद्धता बनाये रखना आदि जाति समूह के दृष्टिकोण से प्रमुख कार्य हैं। समाज एवं राष्ट्र की दृष्टि से भी जाति का महत्वपूर्ण योगदान है। **हट्टन** के अनुसार, “जाति एक ऐसी विशिष्ट संस्था है जो केवल भारत में ही पायी जाती है और इसने सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए ऐसे कार्य सम्पन्न किये हैं जो अन्यत्र कहीं भी नहीं किये जाते।”⁹ जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। विभिन्न समूहों को एक सूत्र में बाँधने की दृष्टि से जाति-व्यवस्था का कार्य अत्यन्त सराहनीय है। **फरनीवाल** के अनुसार, “जाति-व्यवस्था के कारण भारत में ‘बहु-समाज’(A Plural Society) स्थिर रह पाया है। जाति-व्यवस्था से समाज ने ऐसी अवस्था प्राप्त की है कि जिससे कोई समुदाय चाहे वह प्रजातीय, सामाजिक, व्यवसायिक अथवा धार्मिक हो, सामाजिक समग्र के एक सहयोगी अंग के रूप में अपने को उपयुक्त बना सकता है तथा साथ ही अपनी विशिष्ट प्रकृति एवं पृथक व्यक्तित्व को बनाये रख सकता है।”¹⁰ राजनैतिक स्थिरता बनाये रखना, दायित्व-निर्वहन हेतु प्रेरणा प्रदान करना तथा सहिष्णुता आदि समाज हेतु जाति के प्रमुख प्रकार्य हैं। इस संस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक पक्ष श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण है, जिसमें सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक सभी कार्य शामिल हैं। विभिन्न जातियों द्वारा एक-दूसरे के लिए भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादित करने वाली व्यवस्था को ही ‘जजमानी-व्यवस्था’ कहा जाता है। **टॉमस बीडलमैन** ने जजमानी को ‘सामाजिक विनिमय’ कहा है।

परन्तु उपरोक्त संपूर्ण परिदृश्य सिक्के के एक ही पहलू को स्पष्ट करता है और इस प्राचीन प्रकार्यात्मक व्यवस्था का अकार्यात्मक पक्ष भी है जो आज की परिवर्तित परिस्थितियों में यह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है। आज जाति एक प्रकार्यात्मक संस्था से ‘एक वाद’ के रूप में परिवर्तित हो चुकी है जो व्यक्तियों को अपनी जाति-विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने के लिए प्रेरित एवं अपनी जाति के हितों को सर्वोपरि समझने के लिए प्रोत्साहित करती है। राजनीति, चुनाव एवं केन्द्र व राज्य की प्रशासनिक नौकरियों आदि निरपेक्ष क्षेत्रों में भी जाति प्रवेश कर चुकी है। **एम0एन0**

8). J.H. Hutton, 'Caste in India', p.111

9). K.Davis, 'Human Society', p.377

श्रीनिवास ने जातियों को 'एक विशेष राजनीतिक दल' की संज्ञा दी है। विविध जातियों में 'एक विशिष्ट वर्ग-चेतना' का उदय हो रहा है। जाति स्वयं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संगठित करने के प्रयत्न में संलग्न है। नित नये जातीय संगठन अस्तित्व में आ रहे हैं। जातिवाद राजनीति पर भी छाया हुआ है। प्रत्याशियों का चयन, चुनाव क्षेत्रों का वितरण, वोट माँगना तथा मतदान, मंत्रिमंडलों का गठन, नौकरियों में चयन, पद और पुरस्कार, ठेके और लाइसेंस आदि सभी क्षेत्रों में जातिवाद हावी है। डॉ० के०एल० शर्मा के अनुसार, जाति अपने सदस्यों के लिये शक्ति का एक स्रोत है जाति की यह 'समूह' प्रकृति संस्कारात्मक कृत्यों तथा धर्म-सभा से हटकर चुनावों, अपनी जाति के सदस्यों के लिये व्यवसाय तथा नौकरी संबंधी सुविधायें प्रदान करने के रूप में बदल गई है।¹² आज विभिन्न जातियों के मध्य सांस्कृतिक अंतर कम हुआ है तथा भेद-भाव सम्बन्धी आचरण भी अब पूर्व रूप में नहीं है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, नगरीय वातावरण ने छुआछूत के नियमों और निम्न स्तर की जातियों की नागरिक और धार्मिक नियोग्यताओं को शिथिल करने में सहायता पहुँचाई है। आज छुआछूत एवं खान-पान के प्रतिबंध ही ढीले नहीं हुये बल्कि जातियों की पारम्परिक स्थिति भी परिवर्तित हो रही है।¹³ परन्तु इन परिवर्तनों से ऐसे किसी तात्कालिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता कि जाति-व्यवस्था समाप्त हो रही है अथवा कमजोर पड़ रही है वरन् इसके विपरीत वह जातिवाद के रूप में अधिक मजबूत रूप में उभर रही है। आज विभिन्न जातियों के मध्य सांस्कृतिक अंतर कम होते जा रहे हैं परन्तु पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। जाति-व्यवस्था में होने वाले संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिवर्तन को इस संस्था में निरन्तर पायी जाने वाली समुत्थान-शक्ति तथा लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। आने वाले लम्बे समय तक जाति राजनीति, अर्थ-व्यवस्था एवं सांस्कृति के क्षेत्र में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक संरचनाओं के संचालन के लिये संस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी।¹⁴

निष्कर्ष

जाति भारत में स्तरीकरण तथा श्रम-विभाजन के क्षेत्र में, एक निर्णायक भूमिका में रही है। लम्बे समय तक इसने समाज की लगभग सारी गतिविधियों को निर्देशित किया है। परन्तु आधुनिकीकरण के प्रभावस्वरूप वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों ने जाति की परम्परागत भूमिका को भी प्रभावित किया है। अब जातीय सहयोग का स्थान वर्ग-चेतना ने ग्रहण कर लिया है। इसके बावजूद, जाति को कमजोर होती जा रही संस्था के रूप में नहीं आँका जा सकता। डॉ० के०एल० शर्मा के अनुसार, जाति अनुकूलनशीलता तथा समुत्थान शक्ति से संबंधित अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं, जो जाति-व्यवस्था के समाप्त होने के झूठे भय को अप्रमाणित सिद्ध करते हैं।

10). J.H. Huttan, 'Caste in India,' p.115

11). J.S. Furnivall, 'Netherlands India, A Study of Plural Economy', p.464

12). K.L. Sharma, 'New Introduction'- in Review of Caste in India by J. Murdock. p.XXV

13). R.K. Mukerji, 'Inter Caste Tensions : Caste Tension Study', p.14

14). Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition', p.173-74

BIBLIOGRAPHY

1. Hutton, J.H. : 'Caste in India : Its Nature, Function and Origin', Oxford University Press, Mumbai, 1961.
2. Singh, Yogendra : 'Modernization of Indian Tradition', Thomas Press, Delhi, 1973.
3. Srinivas, M.N. : 'Caste in Modern India and Other Essays', Media Promoters and Publishers, Mumbai, 1962.
4. Ghurye, G.S. : 'Caste, Class and Occupation', Popular Book Depot, Mumbai, 1961.
5. Prasad, Narmadeshwar: 'The Myth of the Caste System', Patna, 1956.
6. Gupta, Dipankar : 'Social Stratification', Oxford University Press, Mumbai, 1992

भारतीय कला में धर्म का स्वरूप

डॉ० रीतिका गर्ग*

जिस प्रकार ईश्वर की प्रकृति का अंत नहीं, उसी प्रकार मनुष्य की कला का छोर नहीं। ईश्वर की प्रकृति कल्पना के परे है और यही कल्पना मनुष्य की कला की सीढ़ी है। ईश्वर का साक्षात्कार करना इतना सरल नहीं, परन्तु ईश्वर की रचना सृष्टि का निरीक्षण कर उस ईश्वर की कल्पना की जा सकती है।¹ इस कल्पना को कला साकार रूप प्रदान कर धर्म का गुणगान करती है तथा परमात्मा की प्राप्ति के लिये धर्म को आधार बनाकर उसकी सीमा में ही दौड़ लगाती है। परमात्मा सब वस्तुओं में विद्यमान है। उसकी इस विद्यमानता का प्रकाशन ही कला है। चित्रकार अपनी अनुभूति के अनुसार अपनी अन्तरात्मा की तृप्ति के लिये जब इस सौन्दर्य का चित्रण करता है तो उसे ध्यान नहीं कि उसके पीछे कौन खड़ा है और वह कहाँ बैठा है। वह तो सौन्दर्य में मुग्ध है। उस समय तो उसकी आत्मा समस्त बाह्य जगत को छोड़कर एक अलौकिक स्थिति में पदार्थों, क्रियाओं तथा व्यापारों आदि के प्रवाह में लीन रहती है। इस अवधि के लिये उसकी ऊपरी सत्ता का लोप हो जाता है। इस प्रकार मानव हृदय की अनुभूति होकर कला धर्म के बहुत निकट आ जाती है।²

कला के आकर्षक गुणों के बिना धर्म निर्जीव और नीरस होकर अब तक मिट गया होता। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया और कला ने धर्म को अपना सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति के लिये साधन दिये। प्राचीन समय में धर्म मार्ग होते हुए भी लक्ष्य के रूप में था। मनुष्य का लक्ष्य धर्म को प्राप्त करना था। धर्म के लिए ही मनुष्य को प्रत्येक कार्य करना पड़ता था। धर्म का स्थान प्रमुख था। मनुष्य के सारे कार्य तथा शक्तियाँ धर्म की प्राप्ति में सेवक की भाँति थी। इसी प्रकार कलाएँ भी। कलाओं का भी लक्ष्य धर्म प्राप्ति था। कलाएँ धर्म के लिए थीं। धर्म पहले था, कला बाद में। धर्म के प्रचार में कलाएँ रत हुई।³ समस्त कला चाहे वह ललित हो अथवा उपयोगी धर्म और प्रयोग की भावना से ओतप्रोत रही। इन सबका विकास भी एक दूसरे से श्रृंखलाबद्ध है। गृह निर्माण कला के अन्तर्गत सुन्दर मन्दिरों का निर्माण हुआ। मूर्तिकला के अन्तर्गत उनमें मूर्ति स्थापना हुई चित्रकला ने उन भवनों और मूर्तियों को सुसज्जित किया। रंगों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के आलेखनों से स्थान को भव्यता प्रदान की गई। संगीत तथा काव्य के द्वारा पूजा अर्चना का कार्य पूर्ण हुआ। आज भी इन सब कलाओं का पूजा विधि में वही स्थान है।⁴

सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है कि ईश्वर अथवा परम तत्त्व चरम सौन्दर्यमय है और उसकी खोज परमानन्द की खोज है। इस खोज में धर्म एवं कला समानान्तर चले और धर्म ने अधिक सौन्दर्यमयी उदात्त भावनाओं के प्रसार के लिए कला का सहारा लिया।⁵ आदि मानव ने भी अपने मन के उल्लास को व्यक्त करने के लिये अनगढ़ रेखाएँ

*असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

खींचकर चित्रों की रचना की और प्रकृति के संचालक के रूप में अतिमानवीय शक्ति की मान्यता से ही धार्मिक विश्वास का आरम्भ हुआ। भारत वर्ष की कला में धर्म की अत्यधिक प्रधानता है। भारत में कलायें 64 प्रकार की विशेष रूप से मानी गयी हैं जो कि धार्मिकता से ओत-प्रोत हैं। कलाओं से सहानुभूति रखने वाले आचार्यों अथवा कलाचार्यों की मान्यताओं को आगे बढ़ाते हुए विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला को भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ देने वाली कला के रूप में महत्ता प्रदान की गयी।⁶ इन लक्ष्यों को लेकर धार्मिक-आध्यात्मिक कलाकृतियों की रचना मानव सभ्यता के आदि काल से ही होती रही है। प्राचीन सभ्यताओं के जो अवशेष मिले हैं उनसे यह स्पष्ट है कि विश्व के प्रायः सभी भागों में कलाओं ने लोगों की धार्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण किया है। चेतन कला के जन्म से पूर्व कल्पना तथा विचारों का तत्कालीन समाज के पास बड़ा संग्रह था।⁷ इनसे पौराणिक कथाओं का जन्म हुआ जो धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थीं। यह कथायें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती गई। भाट-चारणों ने बड़े-बड़े सम्राटों के दरबार में सुनाई और समय-समय पर इनमें संशोधन किया गया। आज तक भी ये कथायें प्राचीन जीवन का परिष्कृत रूप इसी प्रकार प्रगट करती रही हैं।

धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित भक्त भगवान को रिझाने के लिये प्रयत्नशील होता था। अपने आपको अपने आराध्य देव को अर्पण कर देता था। एक ही भाव को भिन्न-भिन्न चित्रकारों ने अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न कालों में व्यक्त किया है। सबकी अपनी विशेषता है।⁸ जिस रामकथा को ऋषि बालमीक ने वर्णन किया उसी को गोस्वामी तुलसीदास तथा महाकवि केशव और वर्तमान में साकेत के रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने, परन्तु विषय एक ही होने पर भाव को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है तथा इसी प्रकार कलाकारों ने इन विषयों पर अपनी अपनी रुचि के अनुसार चित्रों की रचना की है। बौद्ध काल में महात्मा बुद्ध की बड़ी-बड़ी विशाल और भव्य मूर्तियों की रचना हुई है। परन्तु एक मूर्ति दूसरे से भिन्न है। यह भिन्नता ही कलाकार का अस्तित्व है। मात्र शक्ति महान है। यह शक्ति महान और अनुपम सौन्दर्य की दात्री है। इसी अनुपम सौन्दर्य से कला का जन्म हुआ है।⁹

धर्म से जुड़ी कला में कलाकार की अभिव्यक्ति किन्हीं आदर्शों, सिद्धान्तों अथवा विचारों के माध्यम से होती है किन्तु इससे कला की उत्कृष्टता में कोई अन्तर नहीं आया, कारण यह रहा कि धार्मिक चिन्तन में तथा कलात्मक दृष्टिकोण में लक्ष्य तो परम सौन्दर्य की ओर बढ़ाना ही था अतः धर्म से जुड़े कला रूपों में अतिमानवीय सौन्दर्य की प्रतिष्ठा के साथ नैतिक बोध भी बना रहा। धार्मिक कला में आदर्शवादी आध्यात्मिक तथा ऊर्ध्वमुखी चेतना का चाक्षुष रूपान्तरण तो होता है किन्तु उसमें जीवन का संघर्ष, आत्मा की अकुलाहट तथा विभीषिकाओं से जूझते मानव के दर्द का कोई स्थान नहीं होता। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म से जुड़ी हुई कला ओजस्विता देती है। प्राणशक्ति को उत्प्रेरित करती है और सौन्दर्य के परमानन्द स्वरूप का प्रगटीकरण करती है।¹⁰ धार्मिक कला दर्शक के मानसिक विकारों का परिष्कार करती है तथा मन के भटकाव को एक सूत्रता प्रदान करती है।

धर्म तथा कला के सम्बन्ध का विचार करते हुए डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है कि

धर्म में जब उपासना तत्व की अनिवार्यता होती है तब प्रेम का उदय होता है। प्रेममय ईश्वर की उपासना हेतु प्रतिमा का सृजन किया जाता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि ईश्वर के प्रति हमारे प्रेम की अभिव्यक्ति ही कला का रूप धारण कर लेती है अथवा कला के माध्यम से ही प्रेम की अभिव्यंजना होती है।¹¹ डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा ने इसे इस प्रकार कहा है: “कला और धर्म में से पहले कौन आया— स्यात् इसका निर्णय न हो सके। सम्भवतः ये दोनों आदिम अवस्था में कुछ अन्तर से प्रगट हुए, कला सौन्दर्य, रूप—सम्पदा को लेकर उन्मुक्त विनोद में इठलाती हुई, और धर्म मर्यादा और विधि—निषेध का मापदण्ड हाथ में लिये अकड़ता हुआ”¹²

कलाकार भी जब धर्म के तत्व को समझ लेता है, तो वह कला—सृष्टि में नवीन प्रेरणा का अनुभव करता है। इस प्रकार कला और धर्म एक हो जाते हैं। वास्तव में धर्म को कला से और कला को धर्म से सदैव ही प्रेरणा मिली है और मिलती रहेगी।¹³ भारत की कला में ईश्वर को साकार रूप प्रदान कर जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उसमें कलाकार की सृजनात्मक कल्पना—शक्ति का प्रमुख स्थान रहा है। यही कारण रहा है कि तुलनात्मक दृष्टि से वह विश्व की अन्य कलाओं से अधिक श्रेष्ठ एवं सामर्थ्यवान सिद्ध हुई है।¹⁴ कला और धार्मिक जीवन का इससे अधिक महत्व और क्या हो सकता है कि भारतीय कला में परमपिता परमात्मा के जिन अनन्त रूपों, भावों और अनुभूतियों को चित्र, वास्तु, शिल्प, काव्य तथा दर्शन आदि में साकार रूप में व्यक्त किया गया वे शताब्दियों तक सम्पूर्ण विश्व को नवीन संस्कृति व सभ्यता का संदेश देते रहे।

संदर्भ सूची

1. शुक्ल, रामचन्द्र, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा०) लि०, वाराणसी, 1958, पृ० सं०—35
2. वर्मा, प्रो० एम० के०, कला की ओर, पापुलर बुक डिपो, आगरा, 1958, पृ० सं० 03
3. शुक्ल, रामचन्द्र, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, विद्या मंदिर प्रेस (प्रा०) लि०, वाराणसी, 1958, पृ० सं० 37
4. झा, प्रो० चिरंजी लाल, कला के दार्शनिक तत्व, लक्ष्मी कला कुटीर, गाजियाबाद, 1964, पृ० सं० 13
5. श्रोत्रिय, डा० शुक्देव, कला विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 2001 पृ० सं० 62
6. कलानां प्रवरं चित्रं धर्मार्थकाममोक्षदं।
7. झा, प्रो० चिरंजी लाल, कला के दार्शनिक तत्व, लक्ष्मी कला कुटीर, गाजियाबाद, 1964, पृ० सं० 13
8. झा, प्रो० चिरंजी लाल, वही, पृ० सं० 5
9. झा, प्रो०. चिरंजी लाल, वही, पृ० सं० 05
10. श्रोत्रिय, डॉ० शुक्देव, कला विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 2001 पृ० सं० 68
11. अग्रवाल, डॉ० गिराज किशोर ‘अशोक’, कला समीक्षा, देवत्राषि प्रकाशन, अलीगढ़, 1970, पृ० सं० 119
12. कला मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण, सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, पृ० सं० 54
13. सक्सेना, डॉ० सरन तथा सरन डॉ० सुधा, कला सिद्धान्त और परम्परा, साकेट प्रिंटिंग प्रेस, बरेली, 1987, पृ० सं० 40
14. गोस्वामी, डॉ० प्रेमचन्द्र, भारतीय कला के विविध स्वरूप, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1996, पृ० सं० 7

राजस्थानी शैली— साहित्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी के रूप में

डा० पुनम रानी*

राजस्थान एक विशाल मरुस्थलीय क्षेत्र है। जिसमें अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हैं। यह प्रदेश अपनी आन-बान के लिये जाना जाता है। यहाँ के राजपूतों की वीरगाथा, रानी पद्मिनी का जौहर, मीरा की कृष्ण भक्ति आदि अविस्मरणीय है। तभी तो कर्नल टॉड को भी लिखना पड़ा था कि —“राजस्थान में कोई छोटा राज्य भी ऐसा नहीं है कि जिसमें थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहाँ ग्रीक वीर लियोनिडास के समान मातृ भूमि पर बलिदान होने वाला वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो”।¹ राजस्थान राजपूत शासकों का क्षेत्र था, उनकी सभ्यता की छाप आज भी समस्त उत्तरी भारत पर स्पष्ट दिखायी देती है। राजपूत परम्परा से काव्य और कला के संरक्षक थे। सोलहवीं शताब्दी में उत्तर भारत से अनेक लघु चित्र प्राप्त हुये जिन्हें 1916 ई० में आनन्द कुमार स्वामी ने दो भागों में वर्गीकृत किया, एक तो मुगल शैली के चित्र, और दुसरे राजपूत शैली के चित्र।² राजपूत शैली के नाम को लेकर विद्वानों में विभिन्न मतभेद थे। राय कृष्णदास जी के अनुसार —‘राजपूत शैली मानने की कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि राजपूत जाति एक शासक जाति थी, जिस कारण ऐसी जाति का प्रभाव समष्टि रूप में कला पर नहीं पड़ सकता’।³ अतः रायकृष्णदास राजस्थानी शैली नाम के पक्षधर थे।

राजस्थानी शैली का विकास अपभ्रंश तथा उसके विकसित रूप चौरपंचशिखा समूह के चित्रों से हुआ और धीरे-धीरे यह शैली मुगल कला से प्रभावित हुई। इस नवीन शैली का प्रथम उदाहरण सन् 1451ई० में चित्रित ‘बसन्त विलास’ है। इसके पश्चात् बने चित्रों में ‘महापुराण’, कुतबन की ‘मृगवती’, बिल्हण की ‘चोरपंचशिखा’, मुल्ला दाऊद की ‘लौर चन्दा’, ‘गीत-गोविन्द’ तथा ‘रागमाला’ आदि में राजस्थानी चित्र शैली का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है।⁴ राजस्थानी चित्रकला की निम्नांकित चार शैलियाँ हैं,⁵ जिनमें अनेक उप शैलियाँ पनपी और एक-दूसरे से प्रभावित हुईं, जिनमें मेवाड, मारवाड, हाडौती, तथा दूँडाड शैली आदि हैं। इनसे सम्बन्धित उप शैलियों का विभाजन इस प्रकार है—

1. मेवाड शैली : उदयपुर, देवगढ़, नाथद्वारा आदि।
2. मारवाड शैली : जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर, नागौर आदि।
3. हाडौती शैली : कोटा, बूंदी, झालावाड आदि।
4. दूँडाड शैली : जयपुर, अलवर, उनियारा, शेखावाटी।

*चित्रकला विभाग, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

राजस्थानी शैली के चित्रों का प्रमुख विषय प्रेम, भक्ति और श्रृंगार रहा है। सोलहवीं शताब्दी की चित्रकला और साहित्य पर वैष्णव सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ा। मीराबाई के द्वारा गाये गए भक्ति पद आज भी गुजरात, बुन्देलखण्ड, तथा राजस्थान में लोकप्रिय गीत हैं। मेवाड शैली पर वैष्णव भक्ति का गहरा प्रभाव है। मेवाड में कृष्ण काव्य, श्रीमद् भागवत, सूरसागर, गीतगोविन्द तथा रसिक प्रिया को आधार बना कर अनेक चित्रों का चित्रण हुआ। रामायण का चित्रण भी मेवाड स्कूल की अमर धरोहर है।

राजस्थानी शैली में कृष्ण तथा राम की विभिन्न लीलाओं का चित्रण इस शैली की भक्ति एवं प्रेम की भावना को दर्शाता है। नाथद्वारा शैली में चित्रित 'गोवर्धन धारण' (आर्ट गैलरी ऑफ दि इन्टरनेशनल सोफिया) चित्र अन्तिम 18वीं शती का है।¹ इस चित्र में कृष्ण के श्री नाथ स्वरूप का चित्रण है। इस चित्र को तीन भागों में विभाजित किया गया है। ऊपर के भाग में गोवर्धन पर्वत, मध्य भाग में कृष्ण तथा नीचे के भाग में इन्द्र को ऐरावत पर चित्रित किया गया है। इस चित्र में रेखायें सरल तथा गतिपूर्ण हैं। लाल, नीले, पीले तथा पृष्ठ भूमि में नीले हरे रंग का प्रयोग किया गया है।

नाथद्वारा शैली में छोटी से छोटी वस्तु का अंकन अनिवार्य है। तिलक के स्थान पर तिलक तथा मध्य भाग में लाल, साथ ही नथ-बेसर के तीन मोतियों में बीच का मोति लाल होना चाहिये। चोटी, फुन्दा, मुकुट, वंशी, गुलाब आदि श्रृंगारिक उपकरणों का अंकन अनिवार्य है। इस शैली के चित्रकारों में नारायण, चतुर्भुज, रामलिंग, घासीराम, देवकृष्ण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।⁷

राजस्थानी शैली में कन्दुक क्रीडा, चन्द्रखिलोना, दधिचोरी, चीरहरण, वंशीवादन, रासलीला जैसे चित्र भी बने। यह चित्र किसी घटना का विवरण मात्र प्रस्तुत नहीं करते, अपितु मन की गहराई तक उतर जाते हैं। यह शैली रस प्रधान है। भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण इसमें विशेष रूप से हुआ है। 1648 ई० में साहबदीन नामक चित्रकार ने मेवाड शैली में 'भागवत पुराण' (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में संरक्षित) सीरिज, 1652 ई० में युद्धकाण्ड (ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन), आदि को चित्रित किया।⁸ इस शैली का अन्य चित्रकार मनोहर था।

धार्मिक कथाओं के साथ-साथ राजस्थानी शैली में अनेक प्रेमाख्यानों के काव्य ग्रन्थों को भी चित्रण की विषय वस्तु बनाया गया है। इनमें ढोला मारु, अनिरुद्ध-उशा, मधुमालती, माधवानल-कामकन्दला, आदि आख्यानों पर बहुतायत से चित्र बने। किशनगढ़ शैली में राधा कृष्ण के प्रेम के अनेक चित्र बने जिनकी ख्याति देश-विदेश तक फैल गयी। इस शैली में राधा-कृष्ण के माधुर्य भाव को नवीन रूप में चित्रित किया गया। किशनगढ़ शैली में उत्सव, नौका विहार, रुक्मणीहरण, प्रिया-प्रियतम का मधुर-मिलन, नागरी दास के पद आदि का चित्रण हुआ है। प्रेम के चित्रों में चित्रकार ने नायिका के विभिन्न रूपों का चित्रण किया। नायिका भेद के चित्रों में अष्टनायिका तथा दशनायिका को आधार बनाया गया।

किशनगढ़ के 'बनी-ठनी' के नारी चित्र को पद्मश्री कृपाल सिंह शेखावत ने मोनालिसा (लिनादो द विन्सी कृत) के समकक्ष माना है।⁹ किशनगढ़ शैली के विषय में पद्मश्री रामगोपाल विजय वर्गीय कथन है कि—“सौन्दर्य शास्त्रीय गुणों से सम्पन्न किशनगढ़ शैली को समझने के लिये भावनात्मक प्रबोध और संवेगात्मक आवेग की आवश्यकता है, न कि मात्र बौद्धिक चेतना की। वस्तुतः दो आत्माओं का “काम ” और आध्यात्मिक प्रेम ही है, जिसने कि किशनगढ़ शैली की चित्रकला को जीवन दान दिया है।”¹⁰ मानव आकृति में राजस्थानी शैली की उप- शैलियों में स्थानीय विभिन्नतायें हैं। इन सभी में किशनगढ़ की मानवाकृति विशेष स्थान रखती है।

राजस्थानी शैली में राग-रागनियों के चित्रण को विशेष स्थान दिया गया। चित्रकारों ने संगीत और कविताओं की सुक्ष्मताओं को आत्मसात करके उनमें रंगों की कलात्मकता और भावों की अभिव्यक्ति देकर जीवंत राग-रागनियों के चित्रण को प्रस्तुत किया। चावण्ड में निसारदी द्वारा चित्रित रागमाला जो 1605 की है, वर्तमान में ये गोपीकृष्ण कानोडिया, कलकत्ता के संग्रह में है।¹¹ इलाहबाद संग्रहालय में रखी 'भैरव रागिनी', तथा भारत कला भवन वारणासी का 'दीपक राग' बूंदी शैली के प्राचीनतम उदाहरण माने जाते हैं।¹² इस चित्रमाला में चमकीले रंग और रेखांकन पश्चिमी भारत शैली या अपभ्रंश शैली के समान है। रेखांकन में कोंणदार रेखाओं का प्रयोग है तथा चेहरों की बनावट जैन पोथियों के चित्रों के समान है।

रागमाला के चित्रण में चित्रकार ने प्रेम की उस पीड़ा को ऋतु चित्रण तथा रेखाओं द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है, जैसे कालिदास के ऋतु संहार तथा अन्य प्राचीन ऋतु गीतों में आभास होता है। यद्यपि रागों के गाने के समय तथा ऋतु का निर्देश संगीत ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु रागों का मानवीकरण प्रमुख रूप से ब्रज भाषा के कवियों का ही काम था। कृष्ण की राग-प्रधान सगुणोंपासना के प्रभाव से संगीत-शास्त्रीयों तथा गायकों में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि प्रत्येक राग अथवा रागिनी का देवी स्वरूप भी है। संगीतकार अपनी साधना से उस स्वरूप की सिद्धि कर सकता है। इस प्रकार साहित्य, संगीत और चित्रकला का अभूतपूर्व संगम हुआ, जो विश्व भर में अपनी प्रसिद्धि रखता है।

रागमाला तथा ऋतु चित्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता जैसे— राग मेघ का अंकन वर्षा ऋतु के समान हुआ है। सफेद रंग से वर्षा की बूंदों का चित्रण किया गया है, तथा नायक-नायिका को किसी वृक्ष की छावों या छत पर भीगते हुये दिखाया गया है। रागमाला, नायिका भेद तथा बारहमासा चित्रों में इतनी समानतायें हैं, कि यदि चित्र पर राग का ध्यान अंकित न हो तो कभी-कभी भ्रम हो जाता है। राग-रागिनियों के चित्रण में सामाजिक एवं लोक जीवन की झांकी नहीं मिलती केवल भागवत पुराण एवं रामायण के अंकन में इसका विशेष विकास हुआ है।

19वीं शती के मध्य तक भारत में पाश्चात्य शैली के प्रभाव से यह शैली विलुप्त हो

गयी । और रातपुतों का इतिहास मात्र रह गयी । राजस्थानी शैली की चित्र कला ने राजपूतों के बलिदान, प्रेम एवं भक्ति को अविस्मरणीय रूप प्रदान किया । राजस्थान की पावन माटी, वीर सपूतों, राजपूतानियों के जौहर, कृष्ण भक्ति, चित्रकारों और साहित्यकारों, को शत्-शत् नमन् ।

सन्दर्भ

1. आर० ए० अग्रवाल : भारतीय चित्रकला का विवेचन, पृ०स०,—89
2. डा० अविनाश बहादुर वर्मा : भारतीय चित्रकला का इतिहास, पृ०स०—174
3. आर० ए० अग्रवाल : भारतीय चित्रकला का विवेचन, पृ०स०,—88
4. डा० रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, पृ०स०—177
5. डा० जयसिंह नीरज : स्पलैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, पृ०स०— 12
6. डा० जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला, पृ०स०—29
7. डा० जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला, पृ०स०—33
8. डा० शुकदेव श्रोत्रिय : भारतीय चित्रकला, शोध—संचय 1997, पृ०स०—45
9. डा० रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, पृ०स०—206
10. डा० रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, पृ०स०—206
11. आर० ए० अग्रवाल : भारतीय चित्रकला का विवेचन, पृ० स०,—97
12. डा० शुकदेव श्रोत्रिय : भारतीय चित्रकला, शोध—संचय 1997, पृ०स०—45

भारतीय शिक्षा के विकास में माध्यमिक शिक्षा आयोग का योगदान

कीर्ति दुबे*

शिक्षा किसी भी राष्ट्र के सुदृढ़ भवन की आधारशिला है। चार्ल्स वुड के घोषणा पत्र को भारतीय शिक्षा व्यवस्था की नींव माना गया है। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का मूल ढाँचा वुड के घोषणा पत्र के आधार पर ही रखा गया था।¹ वुड ने 1854 में जिस सीढ़ीनुमा शैक्षिक आधार की कल्पना की थी वही ढाँचा आशिक परिवर्तनों के साथ आज भी उसी रूप में प्रचलित है।

वर्तमान सन्दर्भ में माध्यमिक शिक्षा बेहद महत्वपूर्ण है। क्योंकि प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा के लिये प्राप्त होने वाले अध्यापक माध्यमिक विद्यालयों में ही प्राप्त होते हैं। वयस्क शिक्षा के स्कूलों को भी यही स्कूल तैयार करते हैं।² उच्च शिक्षा के लिये छात्रों को तैयार करना माध्यमिक शिक्षा का ही कार्य है। छात्र माध्यमिक शिक्षा के बाद ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। अतः यह बहुत जरूरी है कि माध्यमिक शिक्षा उच्च कोटि की हो। तभी यह आधुनिक समय की जरूरतों को पूरा कर पाएगी।

उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्वतंत्र भारत में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन करने व शिक्षा व्यवस्था के स्वरूप को भारतवासियों के अनुरूप ढालने हेतु जो आयोग व समितियां आदि बनाए गए उनमें मुदालियर आयोग का बेहद महत्वपूर्ण स्थान है।

1952-53 में गठित मुदालियर आयोग को माध्यमिक शिक्षा आयोग के नाम से भी जाना जाता है। 1948 में गठित ताराचन्द समिति व इसके उपरांत 1951 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने माध्यमिक शिक्षा को शिक्षा व्यवस्था की सबसे कमजोर कड़ी की संज्ञा दी। अतः 23 सितम्बर 1952 को डॉ. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन करने हेतु एक आयोग बनाया गया। अध्यक्ष के नाम पर इसका नाम मुदालियर आयोग पड़ा। शिक्षा आयोग के अनुसार जांच के विषय थे – भारत की तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा के सब पक्षों की जांच करना एवं उनके विषय में रिपोर्ट देना। और उसके पुनर्गठन एवं सुधार के संबंध में सुझाव प्रस्तुत करना।³ आयोग ने विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति का गहन अध्ययन कर 29 अगस्त 1953 को अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख रखी।

माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन हेतु बने मुदालियर आयोग ने अपनी सिफारिशों में तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था को एक पक्षीय एवं संकुचित शिक्षा प्रणाली की संज्ञा दी। आयोग के अनुसार उस समय की शिक्षा परम्परागत एवं अंग्रेजी भाषा पर आधारित होने के कारण व्यावहारिक जीवन से संबंधित ज्ञान प्रदान नहीं करती।⁴ इससे पूरा श्रम अंग्रेजी सीखने

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर मुदालियर कमीशन 1952-53

में ही व्यय हो जाता है। अतः देश में धर्म, निरपेक्ष गणतंत्र के विकास एवं छात्रों में सहकारिता प्रेम व अनुशासन व श्रेष्ठ नागरिकता के गुणों का विकास करने हेतु शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन लाना आवश्यक है।

माध्यमिक आयोग ने सुझाव दिया कि छात्रों को ग्याहर से सत्रह वर्ष के आयुवर्ग में (7 वर्षीय) माध्यमिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। इसमें तीन वर्ष की जूनियर माध्यमिक शिक्षा एवं चार वर्ष की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा छात्र के लिये आवश्यक है।⁵ छात्रों को अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार पाठ्यक्रम चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसके लिये बहुउद्देश्यीय स्कूल स्थापित किये जाएं, जिनमें विभिन्न पाठ्यक्रम एक साथ पढाए जा सकें। औद्योगिक क्षेत्रों के आस पास स्वतंत्र टेक्निकल विद्यालय शुरू किये जाएं जिन्हें बहुउद्देश्यीय स्कूलों से भी संबद्ध किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, पशुपालन व कुटीर उद्योगों पर आधारित शिक्षा देना अधिक फलदायी होगा। बालक व बालिका दोनों को ही एक समान शिक्षा देना चाहिए। परन्तु इसमें बालिकाओं के लिये पृथक गृह विज्ञान विषय के अध्ययन की व्यवस्था करना आवश्यक होगा। पाठ्यक्रम के विषय एक दूसरे से सम्बद्ध, विविधतापूर्ण व छात्र की योग्यता के अनुसार हो।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा को बनाया जाए। हायर सेकेण्डरी स्तर तक छात्र को अनिवार्य रूप में दो भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। शिक्षा के साथ-साथ छात्रों को जीवन मूल्य सिखाना भी जरूरी है। इसलिये चरित्र निर्माण व अनुशासन पर ध्यान देना होगा। अनुशासन हेतु विद्यालयों में प्रदान की जाने वाली शिक्षा में नैतिक सामग्री को समाविष्ट करने का प्रयास किया जाये।⁶ विद्यालयों में एन.सी.सी., फर्स्ट एड और जूनियर रेड क्रॉस को प्रोत्साहन दिया जाए। छात्रों के ज्ञान का स्तर जांचने हेतु बाह्य परीक्षाओं के स्थान पर आंतरिक मूल्यांकन को बढ़ावा दिया गया। आंकिक मूल्यांकन के स्थान पर प्रतीकात्मक मूल्यांकन आवश्यक माना गया।

मुदालियर आयोग के सुझाव बेहद प्रशंसनीय एवं महत्वपूर्ण हैं। परन्तु फिर भी शिक्षा संबंधी अनेक क्षेत्र इसमें अनछुए रह गये। आयोग ने स्त्री शिक्षा के विस्तार पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। आयोग ने स्त्री शिक्षा के विस्तार हेतु अपर्याप्त सुझाव दिये हैं। माध्यमिक स्तर पर भाषा अब भी एक समस्या है। छात्र के लिये मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा के साथ अंग्रेजी व हिन्दी का ज्ञान अर्जित करना बेहद मुश्किल कार्य है। तीन भाषाओं के साथ अन्य विषयों का ज्ञान छात्र के लिये बेहद बोझिल हो जाता है। मुदालियर आयोग ने माध्यमिक शिक्षा को एक पक्षीय एवं भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे कमजोर कड़ी की संज्ञा दी। हमें उसे सबसे ज्यादा शक्तिशाली कड़ी के रूप में विकसित करना होगा तभी हम सभ्य दंगों की दौड़ में आगे निकल सकेंगे।⁷

हालांकि सरकार द्वारा मुदालियर आयोग के सुझावों को शीघ्रता से कार्यान्वित करते हों बहुउद्देश्यीय स्कूल स्थापित किये गये। छात्र की अभिरुचियों के अनुसार पाठ्यक्रम का विभिन्नीकरण व्यवसाय चयन में सहायता देने हेतु छात्रों के लिय निर्देशन व परामर्श की सुविधा कृषि शिक्षा को बढ़ावा व तकनीकी शिक्षा पर बल आदि।

उपर्युक्त आधार पर यह कहना सही होगा कि भारतीय शिक्षा के इतिहास में मुदालियर कमीशन का स्थान बेहद महत्वपूर्ण है । माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन हेतु आयोग द्वारा दिये गये सुझाव बेहद दूरगामी एवं शिक्षा व्यवस्था को पुनर्जीवित करने वाले है। उदाहरण के लिये छात्र की रुचियों के अनुसार पाठ्यक्रम का विभिन्नीकरण, व्यवसाय चयन में सहायता देने हेतु निर्देशन व परामर्श की सुविधा, कृषि शिक्षा को बढ़ावा व तकनीकी एवं प्राविधिक संस्थानों की स्थापना, आदि ।

आयोग के सुझावो पर समग्र रूप में विचार करने पर यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है। कि यदि सुझावों के अनुरूप शिक्षा का पुनर्गठन किया जाता तो शिक्षा की दिशा पूर्णतः नवीन व परिवर्तित हो जाती। अतः हमारी माध्यमिक शिक्षा स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं एवं आंकाक्षाओं के अनुसार ही होनी चाहिए। इससे भारत का प्रत्येक नवयुवक अपने देश का योग्य नागरिक बन सकेगा।⁸

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

- (1) The Despatch said to be the corner stone of Indian education. It is said to have laid the foundation of our present system of education . A.N.Basu
- (2) साहनी डॉ.पी.आर. आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास प्रकाश प्रिंटर, बरेली पृष्ठ 104
- (3) To enquire into and report on the present position of secondary education all this aspects and suggest measures for its recogonization and improvement. Secondary Education Commission Report Pg- 2
- (4) वही. पृष्ठ 61
- (5) पाठक पी.डी. भारतीय शिक्षा एवं उसकी समस्याएँ , विनोद प्रकाशन , आगरा पृष्ठ 105
- (6) “An attempt should be made to introduce an ethical content in instruction imparted in school.”
Humayun Kabir : Letters on Discipline Pg-2
- (7) जौहरी बी.पी. एवं पाठक पी.डी. भारतीय शिक्षा का इतिहास पृष्ठ 37
- (8) “In short our education must be brought into line with the aspiration and requirements of free India. It should train every young Indian to be a worthy son of his motherland.”
Seven years of Freedom . Ministry of Education Pg. 5

नारी, वेद और वर्तमान परिवेश

डॉ० राम विनय सिंह*

संस्कृति की सम्यक् संचरण—संक्रिया की नियामक शक्ति है—नारी ! नारी जगत् की वह द्वैताद्वैत ऊर्जा है जो किसी शब्द के घेरे में बँधकर अपनी व्यापकता को संकुचित नहीं कर सकती, जो लेखनी का विषय बनकर भी लेखनी की सामर्थ्य से सम्पूर्ण अभिव्यक्त नहीं हो सकती, जो कथा—कहानियाँ बनकर भी साफ—साफ कही— सुनाई नहीं जा सकती ! यह वह शक्ति है जो कभी जगद्धात्री बनकर विश्वमानवता की रक्षा करती है, लक्ष्मी बनकर जनमानसको धन्य करती है, तो कभी सरस्वती की वीणा की मधुर झंकार से सृष्टि के कण—कण में प्राण का संचार करती है ! यह वह शक्ति है जो कभी 'अवाङ्मनसोऽगोचरम्' ब्रह्म के समान्तर उसकी शक्ति—सिद्धि के लिए 'दुरत्यया माया' बनती है तो कभी ऋत् के चक्र को अपनी मोहिनी माया की मजबूत भुजाओं के बल से आगे बढ़ाती है, कभी जीवों के निर्विकार अंतस् में अहंकार के बीज बोकर उसकी अंतस्थ ऊर्जा को जगद्धितार्थ उपयोग करती है तो कभी अहंकार और अन्य के वशीभूत मर्त्य प्राणियों को अपने अंशक्षेप से विनष्ट कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके सन्तुलन को नियंत्रित करती है!

हमारा भारतवर्ष नारियों को अत्यन्त ही सम्मान्य पद की अधिकारिणी मानता रहा है। आदिकाल से लेकर अद्यतन काल तक नारियों की सत्ता और उनकी आदर्शभूत संचेतनाओं का सम्मान यहाँ की श्रेष्ठ परम्परा रही है। लोक व्यवहार की संश्लिष्ट और क्लिष्ट अनभूतियों से लेकर उदात्त आध्यात्मिक चिन्तन तक नारियों ने अपना सहयोग प्रदान किया है तथा अपनी प्रतिभा क्षमता का प्रमाण प्रस्तुत किया है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान के आकरभूत ग्रन्थ वेद इसके प्रबल प्रमाण हैं। ऋग्वेद में नारियों के सन्दर्भ में अनेक प्रसंग हैं। यहाँ अनेक विदुषी ब्रह्मवादिनी नारियों की चर्चा मिलती है। यजुर्वेद में नारी विषयक प्रसंग कम हैं। सामवेद में नारियों से सम्बद्ध कोई बात नहीं है। अथर्ववेद में चर्चा तो है, किन्तु ऋग्वेद की अपेक्षा कम है। कालान्तर में इन प्रसंगों से सम्बद्ध अनेक तथ्य ब्राह्मण—आरण्यक ग्रन्थों में स्फुटित हुए हैं।

वैदिक काल में 'नारी' शब्द का भूयशः प्रयोग नहीं मिलता, तथापि ऋग्वेद में यज्ञार्थ में 'नार्यः' प्रयुक्त है। इस पद के प्राथमिक प्रयोग तैत्तरीय आरण्यक और शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं—कहीं 'नारिः' पाठ भी मिलता है। इसके आधार पर सायण ने इसे नर का उपकारक सिद्ध किया है— "नृणां महावीरार्थिनामुपकारित्वान्नारिः। न नरिः नारिः।"

ऋग्वेद में अनेक नारीवाचक पद प्रयुक्त हैं जो नारी समाज की सत्ता और अस्मिता

*संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० (पी० जी०) कॉलेज, देहरादून

1. सायण तै.आ. 4/2/1

को स्पष्ट करते हैं। ऋग्वेद में नारियों के पर्याय — मेना, ग्ना, स्त्री, योषा, जाया, सूनरी, दुहिता आदि पद मिलते हैं। आचार्य यास्क ने मेना की व्युत्पत्ति ‘मानयन्ति एनाः पुरुषाः इति।’¹ कहकर की। लौकिक संस्कृत में यही ‘मेना’ शब्द मान्या बन गया। ‘ग्ना’ शब्द भी ऋग्वेद में स्त्री—वाचक है। वहाँ यह शब्द प्रायः देव—पत्नियों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्य स्त्री के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में प्रयुक्त यह ‘ग्ना’ शब्द ही लौकिक संस्कृत में ‘गम्या’ अवेस्ता में ‘घेना’ या ‘गेना’, जर्मन में ‘गुने’ तथा ग्रीक में ‘गॉमास्’ के रूप में प्रचलित हुआ। ‘स्त्री’ शब्द नारी के लिए वैदिक साहित्य में सर्वाधिक प्रयुक्त है। इसका निर्माण ‘स्त्यै’ धातु से हुआ है जिसका अर्थ है लज्जा से सिकुड़ना। यास्क ने इस आधार पर कहा है कि—‘स्त्रियः स्त्यायते अपत्रपणकर्मणः।’² किन्तु भगवान् पाणिनी के धातुपाठ में ‘स्त्यै’ का अर्थ शब्द करना तथा इकट्ठा करना है—‘स्त्यै शब्दसंघातयोः।’³ इस प्रकार स्त्रियों को पाणिनी ने बकवादी माना। ऋग्वेद में ‘योषा’ भी नारी—वाचक है — ‘योषा जारस्य चक्षुषा विभाति।’⁴ ‘जाया’ के प्रति भी अनेक मधुर उद्गार ऋग्वेद में मिलते हैं — ‘कल्याणी जाया सुरणं गृहे ते। जायेदस्तं मधवन् सेदुयोनिः।’⁵ नारी वाचक शब्द ‘सूनरी’ भी ऋग्वेद में प्रयुक्त है जिसे लौकिक संस्कृत में सुन्दरी के रूप में देखा जाता है। इसका अर्थ है शोभाशाली, सुन्दरी। यह शब्द उषा के लिए प्रयुक्त है — ‘आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुजजती।’⁶

‘दुहिता’ शब्द भी वेदों में अनेकशः उपलब्ध होते हैं, जिसका अर्थ है कन्या। दुहिता, दुर्हिता, दूरे हिता आदि व्युत्पत्तियों के आधार पर इसके पृथक्—पृथक् अर्थ होते हैं, किन्तु मौलिक अर्थ नारी वाचक ही है। इसका ही अनुसरण अन्य भाषाओं ने भी किया। ऐंग्लों सेक्सन का दोहतार, अग्रेजी का डॉटर, जर्मन का तोख्तर, ग्रीक का थुगदर और अवेस्ता का दुधेतर इस ‘दुहिता’ शब्द से ही उद्भूत हैं। ये सभी स्त्री—वाचक अर्थ ही देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में नारियों के विषय में पर्याप्त विचार किये गये हैं तथा उन्हें यथोचित मान दिया गया है। वैदिक युग में स्त्रियों की दशा पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक ऋषियों और तत्कालीन समाज नियन्ताओं ने स्त्रियों को बराबर का दर्जा दिया। उन्हें किसी आरक्षण के दायरे में नहीं रखा गया। उन्हें किसी महिला संगठन के निर्माण के लिए विवश नहीं किया गया। वे हर स्तर पर बौद्धिक ऊँचाई के साथ पुरुष के साथ—साथ मिलकर चलने की अधिकारिणी रहीं। वैदिक युग स्त्री—पुरुष के लिए समान धर्म वाला युग था। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में वे पुरुषों के समान योगदान करती थीं। उन्हें शिक्षाग्रहण तथा विचरण की स्वतंत्रता थी। परिवार में भी उन्हें उचित सम्मान मिलता था। ऋग्वेद के अनुसार नववधू श्वसुर गृह की साम्राज्ञी होती थी—

1. निरुक्त 3/21/2

2. निरुक्त 3/21/2

3. धातुपाठ 1/935

4. ऋग्वेद 1/98/11

5. ऋग्वेद 3/53/6

6. ऋग्वेद 1/48/5

साम्राज्ञी श्वसुरे भव साम्राज्ञी श्वश्रवां भव ।

ननान्दरि साम्राज्ञी भव सम्राज्ञीधिदेवृषु ।।¹

उस युग में नारियाँ अत्यन्त सुशिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत होती थीं। विदुषी नारियों को पति के साथ या पति की अनुपस्थिति में याज्ञिक कार्य करने का पूर्ण अधिकार था—**योषितो यज्ञियाः इमाः**। उन्हें वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन का भी पुरुषवत् अधिकार प्राप्त था। ऋग्वेद इस बात का प्रमाण है—

‘नूनं साते प्रतिवरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।²

अथर्ववेद तथा शुक्लयजुर्वेद भी स्त्री—शिक्षा की बात करते हैं। अपनी शिक्षा, निष्ठा और ऐन्द्रिक संयम के बल पर अनेक नारियों ने स्वयं को ऋषियों के समान बनाकर ब्रह्मवादिनी पद को प्राप्त किया। इनमें रोमशा, अपाला, गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, विश्ववारा, उर्वशी, वाक्, सूर्या, शश्वती, धोषा, सित्ता आदि हैं। गार्गी और याज्ञवल्क्य के विलक्षण संवाद में गार्गी की प्रतिभा, तर्कशक्ति, विचक्षण मेधा और पूर्व सूक्ष्म विचारतन्तुओं के दर्शन होते हैं। ज्ञानमार्ग की स्वच्छदता के साथ ही नारियों को वैदिक युग में उन्मुक्तता के साथ—साथ धार्मिक— सामाजिक अनुष्ठानों का अधिकार था। किन्तु, हाँ, उस युग में भी स्त्रियों के लिए सम्मानित होने के निमित्त कुछ स्वच्छ मानदण्ड थे जो ऋग्वेद के मन्त्र से स्पष्ट है—

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर ।

मा ते कशप्लकौ दशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ।।³

अर्थात् स्त्रियों को चाहिए कि वे नीचे की ओर देखा करें। ठीक प्रकार चला करें। सारे अंग ढँककर रखें। इस प्रकार नम्र और विनयशील स्त्रियाँ भी वेदज्ञान प्राप्त कर पूजनीय हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग हर प्रकार से नारियों के लिए उदात्त रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें समान अधिकार प्राप्त था, किन्तु वैदिक युग के बाद यह गति उलट गयी और क्रमशः नारियाँ अवगुंठन, पराधीनता, विवशता और अंकुश के नीचे आ गईं। इस विषय में कौन दोषी है यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता, तथापि कालान्तर में लगाये गये प्रतिबन्धों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इसके पीछे भी स्त्रियाँ ही दोषी हैं, क्योंकि वैदिक संस्कृति से प्राप्त अधिकारों की सुरक्षा न कर पाना ही उनके द्वारा का मूल कारण है। उनके आचार—विचार और निष्ठा—संयम में हुई कमी और प्रमाद ने ही उन्हें इस बन्धन का शिकार बनाया। इसके नियमन हेतु ही आचार्यों को कठोर नियम बनाने पड़े। यदि उत्तर—वैदिक युग में घोषा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी नारियाँ होतीं तो सम्मान न मिलना दोषप्रद होता, किन्तु ऐसा कदाचित् नहीं देखा जाता। मेरी दृष्टि में ब्यास, मनु आदि ने जो कठोर सिद्धान्त बनाये उनके पीछे नारियों का ही उच्छृंखल भाव प्रमाण रहा, अन्यथा मनु को यह नहीं कहना पड़ता कि—

1. ऋग्वेद 10/85/46

2. ऋग्वेद 2/17/9

3. ऋग्वेद 3/33/19

‘नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।

सुरूपं वा विरूपं वा पुंमावित्येव भुञ्जते ।।’¹

व्यास को यह उद्घोषणा नहीं करनी होती कि —

‘यदि जिह्वासहस्रं स्याज्जीवेच्च शारदां शतम्

अनन्यकर्मास्त्रीदोषाननुक्त्वा निधनं व्रजेत् ।।’²

पद्यपुराण को चीख-चीखकर नहीं कहना पड़ता कि—

‘स्थानं नास्ति क्षणे नास्ति न च प्रार्थयिता नरः ।

तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ।।’³

किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल नारियाँ ही इस पतन का दोषी हैं, पुरुष भी हैं, तथापि दोष का प्रथम चरण नारी ही है और उत्तर-वैदिक काल में ऐसा होना भी निश्चित ही था, क्योंकि वैदिक काल में यम-यमी संवाद में यमी के वचन इन व्यभिचारों को प्रश्रय देने का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। अतः वर्तमान सन्दर्भ में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि नारी सम्मान की महज नारेबाजी करने से नारियाँ सम्मानित नहीं हो सकेंगी। उन्हें स्वयं ही उस वैदिक युग के सिद्धान्तों को मानकर तन्निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करना होगा, उन्हें पाश्चात्य सभ्यता की फानूसी चमक से नहीं वरन् भारतीय वैदिक सभ्यता की उदात्त चेतना से अपने अंतः को चमत्कृत करना होगा फिर सम्मान के लिए उन्हें किसी व्यक्ति या संस्था की आवश्यकता नहीं होगी, किसी सरकार के समक्ष महिला आरक्षण विधेयक पारित कराने के लिए गुहार नहीं करनी होगी। समाज, परिवेश और जगत् उन्हें स्वयं ही सम्मान देकर गौरवान्वित अनुभव करेगा। यजुर्वेद का यह शुभकामना मन्त्र उनके लिए आदर्श होना चाहिए कि—

‘पिता नोऽसि पिता नो बोधि

नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ।

त्वष्ट्रमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून् मयि धेहि

प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहं सह पत्या भूयासम् ।।’¹

1. मनुस्मृति 9/14

2. महाभारत 12/76

3. पद्यपुराण 49/9

1. यजुर्वेद 37/20

डॉ० एच०एन० मिश्रा के चित्रों में “गणेश” अंकन

श्रीमती कंचन मैनवाल*

भारतीय संस्कृति में श्री गणेश का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दु धर्म का कोई भी धार्मिक कार्य हो उसका प्रारम्भ श्री गणेश नमन से ही होता है। “श्री गणेशाय नमः”। हिन्दू धर्म में तैंतीस कोटि देवता हैं, परन्तु प्रत्येक देवता की पूजा में अग्रस्थान श्री गणेश देवता का ही है। श्री गणेश तो देवताओं को भी वरदान देने वाले देवता हैं।¹ हिन्दू देवताओं में ‘गणेश’ की एक विशेष प्रतिष्ठा है क्योंकि यह देवता समस्त विघ्न—बाधाओं को दूर करने वाले तथा सभी प्रकार के मंगल को देने वाले हैं। इसीलिए समस्त शुभ कार्यों, संस्कारों तथा पूजा—पाठ में सर्वप्रथम ‘गणेश’ की ही पूजा की जाती है। गणपति और गणेश का शाब्दिक अर्थ गणों का अधिपति और गणों का ईश (नायक) है, इनको विनायक, गणेश्वर, गजानन, एकदन्त, लम्बोदर तथा विघ्नराज आदि अनेक नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। इन नामों के क्रमिक विवेचन से “गणपत्य सम्प्रदाय” की क्रमिक लोकप्रियता भी ज्ञात हो जाती है, इन्हें शिव और पार्वती के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है।² “गणपति” शब्द सर्वप्रथम “ऋग्वेद” में प्राप्त होता है, जो सबसे प्राचीनतम वेद है।³

भारत में चित्रकला के सन्दर्भ में गणेश का प्रथम चित्र 15वीं सदी का प्राप्त होता है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख एम०आर० मजूमदार ने अपने लेख में किया है। गणेश का चित्र गीत—गोविन्द की दशावतार पोथी के साथ संलग्न है, पोथी के प्रारम्भ में प्रथम पृष्ठ पर दो चित्र हैं, जिनमें बायीं ओर गणेश तथा दाहिनी ओर सरस्वती का चित्र अंकित है, ये चित्र पश्चिमी भारतीय चित्र परम्परा से ओत—प्रोत हैं।⁴ प्रायः भारतीय चित्रकार किसी भी विषयवस्तु के पोथी निर्माण में प्रथम चित्र श्री गणेश का ही निरूपित करता था। गणेश जी सुख—समृद्धि, वैभव एवं आनन्द प्रदान करने वाले हैं, भारतीय चित्र शैलियों में प्रत्येक शैली में गणेश का अंकन विद्यमान है। प्रायः प्रत्येक चित्र शैलियों में वहाँ के चित्रकारों ने गणेश जी को विविध रूपों में चित्रित किया है।

गणेश जी भारतीय कलाकारों के प्रिय विषय रहे हैं। ऐसे ही गणेश विषयक चित्रों की बड़ी कुशलता व प्रेम से बनाने वाले कलाकार थे डॉ० एच०एन० मिश्रा जी जिन्होंने गणेश जी के सैकड़ों चित्र विभिन्न काल्पनिक रूपों में बनाये हैं। मिश्रा जी को एक अच्छे कलाकार के अलावा एक अच्छे छायाकार, आन्तरिक सज्जाकार, ललित निबन्धकार व सफल अध्यापक के रूप में जाना जाता है। डॉ० एच०एन० मिश्रा का जन्म उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के एक छोटे से गाँव में 12, दिसम्बर 1945 को हुआ, बाल्यकाल में ही इनके माता व पिता का देहान्त हो गया और वह अपने नाना—नानी के साथ रहने लगे। नानी त्योहारों पर अल्पना बनाया करती थीं जो बालक हृदय को बहुत आकर्षित करती थी, वे भी नानी के साथ चित्र बनाया करते थे और यहीं से उनका कला के प्रति रुझान आरम्भ हुआ, नाना—नानी के

*शोधार्थी एम०के०पी० (पी०जी०) कॉलेज देहरादून

धार्मिक प्रवृत्ति का बालक हृदय के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। मिश्रा जी ने कला की शिक्षा प्राप्त की और अपने आप को एक कुशल कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित किया उन्होंने अपने जीवन काल में सैकड़ों चित्र बनाये उनके चित्रों में दृश्य चित्र, ग्रामीण जीवन के चित्र, साँझी कला, बनारस के घाट, प्रकृति व नारी चित्रण विशेष रहे हैं।

मिश्रा जी का आध्यात्मिक एवं धार्मिक नगरी वाराणसी से बहुत लगाव था बनारस में सभी हिन्दू भवनों के मुख्य द्वार पर गणेश जी की प्रतिमा लगायी जाती है, तथा जिन द्वारों पर प्रतिमा नहीं है वहाँ गणेश जी के चित्र बना दिये जाते हैं। इन सभी बातों ने मिश्रा जी के मन में गणेश जी के प्रति स्नेह को बढ़ा दिया और यह स्नेह उनके जीवन के अंत तक बना रहा। मिश्रा जी ने गणेश जी पर कई सारे चित्र बनाये, उन्होंने गणेश जी को एक तरफ देवों के देव के रूप में बनाया तो दूसरी तरफ एक साधारण जन की तरह बनारस के घाट पर छतरी के नीचे आराम करते दिखाया। मिश्रा जी वर्षों तक गणेश विषय के चित्र बनाते रहे उन्होंने गणेश जी पर विभिन्न मुद्राओं में सीरीज भी तैयार की है।

वह गणेश जी को अपना ईष्ट देव मानते थे। उनके चित्रों के विषय प्राचीन धार्मिक प्रतीकों, मिथकों, राशि के होते हुए भी आज के सन्दर्भ में उतने ही ताजा व जीवन्त हैं।¹ इन प्रतीकों में धार्मिकता के साथ-साथ कलात्मक अभिव्यक्ति है। मिश्रा जी के अनुसार सभी देवताओं में गणेश जी भाग्योदय करते हैं और प्रत्येक शुभ कार्य ग्रह, मन्दिरों के मुख्य द्वार 'गणेश' जी द्वारा ही सुशोभित हो, तो शुभ का संकेत देते हैं। मिश्रा जी के चित्रों में ग्रामीण क्षेत्रों के दर्शन होते हैं, जहाँ ग्रामीण महिलाएं प्रत्येक मांगलिक कार्यों में दीवारों को गोबर व मिट्टी से लेप कर उस पर श्री-गणेश जी को चित्रित करती हैं।

मिश्रा जी ने अपने चित्रों में गणेश जी को विभिन्न रूपों एवं भंगिमाओं में दर्शाया है। गणेश जी को उन्होंने अपनी कल्पनाओं से आकर्षक रंगों से पेंट किया है वे जाने-अनजाने संस्कारों से प्रभावित रहने के बावजूद इसके रूपायन के लिए पुराने ढर्रे को अपनाये रहने के बजाए उन्होंने तत्वों के कथ्य और सम्प्रेषणीयता को मौलिक शैली में रूपापित किया है।² भारतीय संस्कृति के देवी-देवताओं को कलाकारों ने ही रूप दिया है। कल्पना हमारे मस्तिष्क में होती है और उसकी झलक चित्रकार अपने चित्रों में दिखाता है।

मिश्रा जी ने अपने जीवन में सैकड़ों चित्र बनाये जैसे-प्रोट्रेट, संयोजन, अमूर्त चित्र, दृष्य चित्र आदि लेकिन गणेश जी को चित्रित करना उनका सबसे प्रिय विषय रहा है। मिश्रा जी ने जब गणेश सीरीज के चित्र बनाने प्रारम्भ किये तो चार-पाँच वर्षों तक लगातार गणेश जी को ही चित्रित करते रहे। सभी चित्र बहुत ही सुन्दर व अनोखे ढंग से बनाये गये हैं। सभी चित्र बहुत ही प्रभावशाली हैं, जिनमें ग्रामीण जीवन की महक का आभास होता है। मिश्रा जी ने गणेश पर आधारित कलेण्डर भी तैयार किये हैं, जिनमें गणेश जी विभिन्न मुद्राओं व भावों में चित्रित किये गये हैं। मिश्रा जी ने अपने चित्रों में पारम्परिक कला के अलंकरण, आकृतियों और विषयों से अलग हट कर शैलीगत नवीनता रचना वैशिष्ट्य और रंग संयोजन की विशेषता को महत्व दिया है।

मिश्रा जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन कला साधना में लगा दिया। रिटायर होने के बाद वह गम्भीर बीमारी से ग्रस्त हो गये जिस कारण 64 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। वे आज हमारे बीच उपस्थित नहीं हैं, लेकिन उनका कला तथा गणेश जी के प्रति प्रेम हम उनके द्वारा बनायी गयी गणेश सीरीज में साफ—साफ देख सकते हैं, जिसमें वह छोटे—छोटे मनोभावों की अभिव्यक्ति करने में सफल रहे हैं।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय साहित्य एवं कला में गणेश, डॉ० प्रेम शंकर द्विवेदी, डॉ० शिव कुमार शर्मा — पृ०सं० — 16
2. वही — पृ०सं० — 13
3. गणवांत्वा गणपति हवामेह कवितामुपमस्त्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्राह्मणस्यत आ नः शृणवन्नुतिभिः सीसादनम, ऋग्वेद, 2, 23, 1
4. एम०आर० मजुमदार — ए फिफटीन सेन्चुरी गीत गोविन्द मैन्सक्रिप्ट इन
गुजराती पेन्टिंग — जनरल ऑफ यूनिवर्सिटी ऑफ, बाम्बे, 1938 ई०, पृ०सं०— 124
5. दून दर्पण — 30, अक्टूबर — 1993
6. दून दर्पण — 30, सितम्बर — 2000
7. राष्ट्रीय संहारा — 28, सितम्बर — 1996

यजुर्वेद संहिता में स्तोत्रों तथा मंत्रों का स्वरूप

डॉ० राखी उपाध्याय*

वेद आर्य जाति के सर्वस्व हैं तथा भारतीय संस्कृति और भारतीय ज्ञान—विज्ञान सब कुछ वेद मूलक है। वेदों का स्वरूप प्राचीन काल में ही निर्णीत हो चुका था। “आपस्तव श्रोतसूत्र” के अनुसार ‘मंत्र—ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’ अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ वेद हैं। ‘अपौरुशेयं वाक्यं वेद’ अर्थात् पुरुष प्रयत्न के बिना स्वयं प्रादुर्भूत वाक्य राशि ही वेद है।

‘वेद’ शब्द ‘विद् ज्ञाने’ धातु से घञ् प्रत्यय होकर बना है। घञ् प्रत्यय भाव अर्थ में और कर्तृ भिन्न कारकों के अर्थ में होता है, इसलिए ज्ञान, ज्ञान का विषय श्रेय पदार्थ और ज्ञान के साधन में तीनों ही ‘वेद’ शब्द के वाच्य अर्थ हो सकते हैं। भगवान पाणिनी ने तो ‘वेद’ शब्द में चार धातुओं का समावेश किया है— विद्ज्ञाने, विद्सत्तायाम्, विद्ललाभे, विद्विचारणे।

जर्मन विद्वान विन्टरनिट्ज के मतानुसार वेद का अर्थ है— ईश्वरीय ज्ञान अथवा विधान को एक जगह प्रस्तुत करने वाला वाङ्मय। इस संबंध में हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर में इन्होंने लिखा है— **“It is here not a matter of Canon which might have been fixed at some council, the belieg in the sacredness of this literature arose, at is was spontaneously and was seldom disputed”.**

प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्म, विद्या और वेद इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है। तीन वेदों के लए ‘त्रयं ब्रह्म’, ‘त्रयी विद्या’ और ‘त्रयो वेदाः’। ये तीनों प्रकार के प्रयोग यत्र—तत्र प्राप्त होते हैं। यद्यपि सूक्ष्म विचार से इन शब्दों के अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से थोड़ा बहुत भेद है। वेद शब्द का ‘ज्ञान’ अर्थ जो कहा गया है, वह तो तीनों शब्दों में समान ही है किन्तु साधनों का भेद प्रतीत होता है।

ऋक्, यजुः और साम— ये तीनों ही वेद एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध रूप में ही रहते हैं। साम मण्डल के अन्तर्गत यजुः ही देखने में या चित्र आदि से तथा दूर से प्रभाव डालने आदि में कारण होता है सब जगत के प्राणभूत सूर्य को उदाहरण मान कर इन वेदों का विवरण शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में यजुः के अर्थ को प्रतिपादित करते हुए उसे ‘यत् + जू’ का संयोग कहा है। ‘यत्’ का अर्थ होता है— ‘गतिशील’ तथा ‘जू’ का अर्थ होता है— आकाश। सृष्टि के निर्माण से पहले ‘जूः’ आकाश रूप में सर्वत्र एक ही चेतन तत्त्व फैला हुआ था। चेतना में

*एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग डी०ए०वी० (पी०जी०) कॉलेज, देहरादून, उत्तराखण्ड

संकल्प उभरा तथा आकाश में सूक्ष्म कण उत्पन्न हुए। यह गतिशील थे, इसलिए 'यत्' कहे गए। इसे आकाश से वायु की उत्पत्ति कह सकते हैं। इन प्रवहमान सूक्ष्म कणों में गति के कारण सूक्ष्म विद्युत् विभव उत्पन्न हुआ। इस विद्युत् ऊर्जा को ही अग्नि की उत्पत्ति (वायोःअग्नि) कहा जा सकता है। इन तीनों (जूः आकाश, यत्— सूक्ष्म, प्रवहमान कण तथा उस गति से उत्पन्न विद्युत् विभव) के संयोग से ही परमाणुओं की रचना हुई। केन्द्रक में धन विद्युत् विभव युक्त सूक्ष्म कण तथा उनके आस-पास के आकाश को घेरते हुए गतिशील ऋण विभव युक्त सूक्ष्म कण, यही है विभिन्न पदार्थों के परमाणुओं की संरचना। इन्हीं का अनुपात बदल जाने से पदार्थ बदल जाते हैं। 'यत्' और 'जू' के संयोग ही पंचमूलात्मक जगत् की सृष्टि का द्योतक है।

यजुर्वेद को 'यज्ञ' से संबंधित माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'यजुश' को यत्र धातु से संबद्ध कहा गया है। इस प्रकार यजु, 'यजू' तथा 'यज्ञ' तीनों एक दूसरे के पर्याय हो जाते हैं जैसे—

यच्छिष्टं तु यजुर्वेद तेन यज्ञमयुञ्जत ।

यजेनात् स यजुर्वेद इति भास्त्रविशिचयः ।।

यजुर्वेद में जो भी प्रतिपादित है उसी से यज्ञ का यजन किया गया। यज्ञों के यजन के कारण ही उसे यजुर्वेद नाम दिया गया है, ऐसा शास्त्र का निश्चय है। यज्ञ अथवा यजन को केवल लौकिक 'अग्निहोत्र' परक कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। पाणिनि ने 'यज्' धातु का अर्थ देवपूजन, संगतिकरण, एवं दान दिया है।

यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु के लिए स्त्रोतों या प्रार्थना की पुस्तक है। पतंजलि ने अध्वर्यु के वेद की एक सौ एक शाखाएँ बताई हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि केवल इसी वेद की अनेक शाखाएँ रही होंगी, क्योंकि विभिन्न यज्ञीय कार्यों के विषय में, जिन्हें अध्वर्यु को स्तोत्रों के साथ सम्पादित करना पड़ता था, अनेक 'दृष्टिकोणों एवं मतमतान्तरों की उत्पत्ति तथा लघु सम्प्रदायों का जन्म होना कठिन नहीं था और फिर उन सम्प्रदायों के अपने-अपने विशिष्ट स्तोत्र एवं कर्मकाण्डीय ग्रन्थ होने भी अनिवार्य थे। किसी भी विशिष्ट कृत्य (ceremony) या कर्मकाण्ड (literary) में लेशमात्र अन्तर ही एक नवीन वैदिक शाखा की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त था।

यजुर्वेद की आज पाँच शाखाएँ उपलब्ध हैं, वे कठसंहिता, कपिष्ठल कठसंहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता एवं वाजसनेयिसंहिता। यजुर्वेद के कृष्णयजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद, ये दो भेद प्रख्यात हैं। शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता में केवल प्रार्थना परक एवं यज्ञविधि परक मंत्र हैं, वहीं कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं में मंत्रों के साथ-साथ याज्ञिक विधियों और उनसे संबंधित विवेचन भी उपलब्ध है। इस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया का पक्ष कृष्णयजुर्वेद की विशेषता है। कृष्ण यजुर्वेद में वैदिक मंत्रों के साथ-साथ ब्राह्मण अंश भी वर्तमान है, जो इसे शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध करता है।

यजुर्वेद के मंत्रों के अर्थ प्राचीन आचार्यों ने, यज्ञीय कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में किए हैं। यजुर्वेद के स्तोत्र, तथा मंत्र आंशिक रूप से ऋचाओं तथा आंशिक रूप से गद्य वाक्यों से निर्मित हैं। यह गद्य ही यजुश् कहलाता है। यजुश् के आधार पर ही यजुर्वेद का नाम निर्भर है। स्तोत्रों के गद्य में, आनुशंगिक लय है जो उसे काव्यतत्त्व के स्तर पर भी पहुँचती है, इस संबंध में विन्टरनिट्ज का कथन उद्धरणीय है—

“The Prose of these prayers is occasionally rhythymical and here and there even rises to poetical flight”

यजुर्वेद की भाषा का ऋग्वेद की भाषा से अधिक भेद नहीं है, यद्यपि परिवर्तन के कुछ लक्षण अवश्य दिखाई देते हैं। यजुर्वेद में पाई जाने वाली ऋग्वेद में कुछ पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं, जो निश्चय ही ऋग्वेद की ऋचाओं को यजुर्वेद के यज्ञीय कृत्यों के अनुकूल बनाने के लिए जान बूझकर किए गए हैं। ऋग्वेद का सम्पूर्ण सूक्त यजुर्वेद में बहुम कम उद्धृत किया गया है। बहुधा ये पृथक्-पृथक् ऋचायें ही हैं, जो अपने प्रसंग से हटाकर यजुर्वेद में केवल इसलिए संकलित कर दी गई कि वे किसी यज्ञीय कृत्य के लिए विशेष उपयुक्त प्रतीत होती थी। अतः यजुर्वेद का महत्त्वपूर्ण भाग उसके मौलिक गद्यसूत्र एवं स्तोत्र हैं।

प्रार्थनामन्त्रः— यजुर्वेद में ऐसे मंत्रों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें केवल देवता के नाम के उच्चारण के साथ ही आहुति को अग्नि में डाल दिया जाता है। इन मंत्रों में इदमग्नये इदमिन्द्राय या अग्नये स्वाहा एवं इन्द्राय स्वाहा आदि प्रमुख मंत्र हैं। (यजुर्वेद में कुछ स्थानों में ‘इन्द्र और अग्नि’ का युग्म, ऋषि रूप में उल्लिखित है। संभवतः मानवीय द्रष्टा ऋषि ने इन्द्र और अग्नि का साक्षात् दर्शन कर उन (देव) से अभिन्नता प्राप्त कर ली थी, तब से वे ‘इन्द्राग्नी’ ऋषि से जाने गए। ऋषित्व में ‘इन्द्राग्नी’ ऋषि का नाम यजुर्वेद में उल्लिखित है—

‘इन्द्राग्निदृष्टे अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ

यजुर्वेद के प्रथमोऽध्याय में—

युष्मा इन्द्रोवृणीत वृत्रतूर्य यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य प्रोक्षिताः स्थ ।

अग्नये त्वा जुष्ट प्रोक्षाम्यग्नीशो माभ्यां त्वा जुष्ट प्रोक्षामि ।

दैत्यायकर्मणे भुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोशुद्धाः पराजहनुरिदं वस्तच्छुन्धामि ।।

यह कण्डिका यज्ञीय संसाधनों पर जल सिंचन के पूर्व जल को संस्कारित करने, उपकरणों तथा छवि को पवित्र करने के लिए है—

हे जल! इन्द्रदेव ने वृत्र (विकारों) को नष्ट करते समय आपकी मदद ली थी और आपने सहयोग दिया था। अग्नि तथा सोम के प्रिय आपको, हम शुद्ध करते हैं। आप शुद्ध हों (हे यज्ञ उपकरणों) अशुद्धता के कारण आप ग्राह्य नहीं, अतः यज्ञीय कर्म तथा देवों की पूजा के लिए हम आपको पवित्र बनाते हैं।

सायंकाल के समय 'अग्नि ज्योतिः ज्योतिरग्निः' मंत्र के द्वारा प्रार्थना की जाती है और सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः, कहकर प्रातःकाल के समय प्रार्थना की जाती है।

"नक्तोशासा समनसा विरुपे धापयेते शिशुभेकयं समीची"

द्यावाक्षामा रूक्मो अन्तर्विभाति देवाऽअग्निं बारयन् द्रविणोदाः ।।"

कृष्णवर्ण रात्रि एवं शुक्लवर्ण दिन के मध्य (सन्ध्या काल में अग्निहोत्र के लिए प्रकट अग्नि) सुशोभित अग्निदेव अनुकूल विचारों वाले माता—पिता से उत्पन्न सुसन्तति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यही अग्निदेव पृथ्वी और अन्तरिक्ष के मध्य दिव्य प्रकाश के रूप में सुशोभित होते हैं। यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के परिणाम स्वरूप याजकों को अपार वैभव प्रदान करने वाले देवगण, यज्ञ सम्पन्न करने के लिए यज्ञान्नि को ग्रहण कर रहे हैं। (17:11—70)

इसी प्रकार अल्प शब्दों में छोटे—छोटे यज्ञ के कार्यों का उद्देश्य भी मंत्रों द्वारा पूर्ण किया जाता है। उदाहरण के लिए केश, मूँछे, नेत्र, कान, जिह्वा, अंगुली, भुजाएँ, पीठ, नाभि, स्त्री प्रजनन, कोश (वृषण), इन्द्रियों, जंघाओं तथा पैरों आदि का नाम लेकर उससे कोई कामना प्रकट की जाती है एक शाखा को तोड़ता हुआ और बछड़ों को भगाता हुआ पुरोहित कहता है— **"रसाये त्वा भाक्तये त्वा"**

अर्थात् यह तुम्हारी रसवृद्धि के लिए है, यह तुम्हारी शक्तिवृद्धि के लिए है। अधिकतर किसी यज्ञ में उपकरण से कोई कार्य करते हुए उसका नाम लिया जाता है। उदाहरण के लिए अग्नि में समिधा रखते हुए समिधा के प्रति कहा जाता है कि 'तुझे अग्नि ने प्रज्वलित किया है, तुझ में अग्नि की ज्योति समा जाए और समाकर हमें भी प्रज्वलित कर दे, प्रत्युज्जीवित कर दे।

प्रकृति का संतुलन रखने वाले विशद प्रकृति ऊर्जा चक्र को यज्ञ से उत्पन्न ऊर्जा माध्यम से सहयोग मिलता है, इसलिए उसे विशद अग्नि को सुख देने वाला कहा गया है।

स्थिरो भव वीड्वद्भः ऽ आशुर्भव वाज्यर्वन् ।

पृथुर्भव सुशदस्त्वमग्नेः पुरीशवाहणः ।। (11.7.44)

अर्थात् पदार्थ के प्रति गमनशील है अर्वन् (चंचल यज्ञाग्नि) आप सुस्थिर, सुदृढ़ और वेगयुक्त होकर शक्तिशाली बने तथा सबको वहन करने वाले आप विशद (सब जगह संव्याप्त) अग्नि को सुख देने वाले बने।

इसी प्रकार जब किसी उपकरण से अनिष्ट की संभावना होती है तो उस अनिष्ट को दूर करने के लिए छोटी सी प्रार्थना पर्याप्त समझी जाती है, जैसे कि मेध्यपशु जब बाँधकर यज्ञ—यूप से बाँधा जाता है तो उसे कहा जाता है कि तुम सर्प न बन जाना। दाढ़ी बनाने वाले उस्तरे के प्रति कहा जाता है कि तू कोई घाव न कर देना।

इसी प्रकार द्वाविंशोऽध्याय में अश्वमेघ की विशेष आहुतियों का उल्लेख मिलता है। आहुतियों के पूर्व कुछ मंत्रों में अश्वमेघ के अश्व की स्तुतियाँ की गई हैं। सर्वत्र संचरित होने

में सक्षम होने के कारण यज्ञीय ऊर्जा को अश्व तथा स्वभावतः चंचल अग्नि की ज्वालाओं को अर्वन् कहकर संबोधित किया गया है।

इसी प्रकार यजमान जल देवता को संबोधित करते हुए कहता है कि—

इद्रमापः प्र वहतावद्यं च मलंचयत् ।

यच्चाभिदुद्रो हानतं यच्च भोपे अरुणम ।

आपो मा तस्मादेनस पवमानश्च मुञ्चत । (6.3.17)

हे जल देवता! आप जिस प्रकार शरीरस्थ मलों को दूर करते हैं, उसी प्रकार याजक के जो भी ईर्ष्या, द्वेष, असत्य भाषण, मिथ्यादोशारोपण आदि निन्दनीय कर्म हैं, (आप) उन सब दोशों को दूर करें। जल एवं वायु अपने प्रवाह से पवित्र करके, हमें यज्ञीय प्रयोजन के अनुरूप बनाए।

पृथ्वी को संबोधित करते हुए यजमान कहता है—

पृथिवि मातर्मा मा हिंसी महिं त्वाम्

अर्थात् हे पृथिवि मातः मुझे कष्ट मत पहुँचाना, मैं भी तुझे कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा। इन छोटी-छोटी प्रार्थनाओं में सरलता और सहजता परिलक्षित होती है।

यजुर्वेद के यज्ञ परक मंत्रों में देवताओं का संबंध किसी न किसी सन्दर्भ के अनुकूल किसी पात्र, वस्तु एवं कर्म से भी जोड़ा गया है। उदाहरणार्थ पुरोहित यजमान की पत्नी को रस्सी से बाँधते हुए कहता है कि तू रस्सी नहीं अदिति की मेखला है।

सोमयोग के अवसर पर यजमान अपने आपको मूँज तथा सन की मेखला से बाँधते हुए कहता है—

ऊँ अर्ज्जस्याङ्गिरस्यूर्यं व्रदाऽउर्ज्जमयि धेहि (तू अंगि रस की शक्ति है, तू ऊन की तरह कोमल है, तेरी यह मृदुता मुझे बल दे)।

विभिन्न मंत्रों के संबंध में डॉ. विन्टरनिट्ज की धारणा है कि ये मंत्र असंगत एवं असंबद्ध हैं। उनका कहना है कि ब्राह्मणों ने जनता के ऊपर अपना हाथ बनाए रखने के लिए कितने ही असंख्या ऐन्द्रजालिक जैसे मंत्रों की रचना की थी।

We may indeed often doubt whether these are the productions of intelligent people, these have monotonous variations of one and the same idea and are particularly characteristic of the writing of persons in the state of imbecile.

श्रोडर का कथन है कि प्रायः एक ही विचार के आधार पर या कुछ हेर-फेर के साथ हतबुद्धि मूर्ख की तरह पुरोहित उन्हीं शब्दों में एक ही विचार की पुनरावृत्ति करता चलता है।

यजुर्वेद के कुछ प्रार्थना मंत्र गद्य में बने हुए ऐन्द्रजालिक मंत्र मात्र प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं तो अभिचार तथा अभिषाप के रूप में भी प्राप्त होते हैं। कुछ यज्ञीय कृत्य ऐसे भी हैं जिनके द्वारा शत्रुओं को हानि पहुँचाई जा सकती है।

सुभित्रिया नऽ आपऽ ओशधयः सन्तु दुर्भित्रियास्तस्मै सन्तु योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विश्वः (38.4.23)

हे यज्ञ प्रभों! हमारे लिए जल तथा औषधियाँ परम मित्र के समान लाभ पहुँचाने वाली हों। हमसे जो द्वेष करते हैं या जिनसे हम द्वेष करते हैं, उनके लिए यह जल तथा औषधियाँ शत्रु के समान हानि पहुँचाने वाली हों।

इसी प्रकार कर्मकाण्डों की परम्परा के अनुकूल भी मंत्रों का उपयोग किया गया है। गौ बाँधने की रस्सी प्राप्त करने, गौ को यज्ञ स्थल पर लाने, बछड़े को रस्सी से मुक्त करने तथा दूध दूहने की क्रियाओं पर भी मंत्रों की रचना की गई है। इड़ा (पृथिवी) अदिति एवं सरस्वती को गौरूप कहा गया है।

लौकिक सन्दर्भ में संज्ञाओं, संबोधनों का अधिकतर उपयोग जातिपरक अथवा व्यक्तिपरक होता है, जैसे इन्द्र से किसी व्यक्ति अथवा देवता के नाम एवं गौ या अश्व से जाति विशेष, के पशुओं के नाम का बोध होता है। यजुर्वेद में जगह—जगह देवताओं गौ, अश्व, बाजी, अज, अवि, इष्टका आदि शब्दों का प्रयोग संबोधन रूप में होता है। ये सभी अनेकार्थी शब्द हैं। यदि इनके गुण या भाव—परक अर्थ लिए जाए तथा व्यक्ति या वस्तुपरक अर्थों का पूर्वाग्रह न रखा जाए, तो इन वेद मंत्रों के अर्थ अधिक स्वाभाविक और गरिमामय बन पड़ते हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन का उद्देश्य यजुर्वेद में वर्णित मंत्रों तथा स्तोत्रों के स्वरूप को परिचय कराना है तथा उसमें निहित विभिन्न मंत्रों के द्वारा पर्यावरण, देवता तथा आम जीवन में होने वाले कृत्यों को व्यावहारिक रूप में महत्वपूर्ण बनाना है। यह शोध—पत्र शिक्षकों,ध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए उपादेय सिद्ध हो सकेगा।

सन्दर्भ सूची

1. यजुर्वेद संहिता — सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
2. वैदिक साहित्य — बलदेव उपाध्याय
3. विन्टरनिट्ज — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग—1
4. वैदिक अध्ययन — डॉ० शशि तिवारी
5. वैदिक साहित्य और संस्कृति — आचार्य बलदेव उपाध्याय
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास — कमल नारायण टण्डन
7. वैदिक साहित्य और संस्कृति — डॉ० किरण कुमारी
8. संस्कृत हिन्दी कोश — आदित्येश्वर कौशिक, प्रकाशक— आधुनिक प्रकाशन, 4—बी/6, पुरी गली, मौजपुर, दिल्ली।

ढोकरा मूर्तिशिल्प में लोककला एवं संस्कृति के मौलिक रूपाकार

दिव्या थापा*

कला मानव की सहचरी के रूप में आदिकाल से ही साथ रही है। अपनी संमवेदनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए कभी उसने अनगढ़ चट्टानों पर चित्रकारी की तो कभी उसे तराश कर स्वरूप प्रदान किया।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से आज तक लोक जीवन से जुड़ी ऐसी अनेक निर्बाध कला परम्पराएँ चली आ रही हैं जिन्हें किसी क्षेत्र विशेष की आदिवासी जनजातियों द्वारा अस्तित्व प्रदान किया जाता है। अतः लोक कला के इस रूप को 'जनजातीय कला' के नाम से सम्बोधित किया गया है। देश भर में फैली अनेक जनजातियों की अपनी-अपनी मौलिक कला-परम्पराएँ होती हैं, जो इनकी विशिष्ट संस्कृति तथा परम्पराओं की एक सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करती हैं। ऐसी ही कुछ कला परम्पराओं का निर्वाह बंगाल, छत्तीसगढ़, झारखण्ड तथा उड़ीसा के कुछेक क्षेत्रों की जनजातियाँ करती आ रही हैं। कुछ भिन्नता के साथ इनके द्वारा सृजित मूर्तिकला 'ढोकरा' नाम से विख्यात है। ढोकरा शिल्प का नामकरण पश्चिम बंगाल के 'ढोकरा दमार' जनजाती के धातु शिल्पियों के नाम पर पड़ा है, जो अन्य स्थलों पर भी विस्तारित हो गये।¹ छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में ढोकरा शिल्प का कार्य करने वाले शिल्पियों को 'कासेर' कहते हैं तथा घसिया जाति के शिल्पियों को 'घड़वा' कहलाते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के मयूर गंज जिले में दो जातियों थेतरी राना तथा थेतरी नाइक द्वारा ढोकरा शिल्प का कार्य किया जाता है। जिन्हें आजकल कर्माकर कहकर सम्बोधित करते हैं।² इसी प्रकार मध्य प्रदेश के बस्तर में गोरुआ और बिहार में मल्हार यह कार्य करते हैं।³

ढोकरा शिल्प का निर्माण एक श्रमसाध्य तकनीक है, जिसमें धातु की ढलाई की 'लोस्ट वेक्स'⁴ या 'cire-perdue' तकनीक का प्रयोग किया जाता है। यह तकनीक अत्यन्त प्राचीन तकनीकों में से एक है। मोहनजोदड़ो से प्राप्य काँसे की नर्तकी इसी तकनीक से निर्मित जान पड़ती है। ढोकरा कलाकार इस तकनीक में 'बेल धातु' से शिल्प निर्मिति का कार्य करते हैं। 'बेल' अर्थात् घंटी— इसके लिए ताँबा, जस्ता, टिन, गिलट मिश्रित धातु का इस्तेमाल होता है, जिसमें लचीलापन हो और चोट पड़ने पर टूटे नहीं है।⁵ कलाकृति के निर्माण के प्रारम्भ में कलाकार मृतिका द्वारा शिल्प का अस्पष्ट ढांचा बनाते हैं, जिसके सुखने के पश्चात् मधु के मोम में कोलतार या 'धुना' (साल के पेड़ की गोंद), उबला हुआ सरसों का तेल मिलाकर मृतिका शिल्प के चारों ओर पतली तह में लपेट लेते हैं, जिस पर सम्पूर्ण सूक्ष्म कार्य कर लिया जाता है। इस प्रतिकृति के ऊपर मिट्टी की एक इंच मोटी परत चढ़ाने के बाद

*शोधार्थी (चित्रकला) एस0 एस0 जे0 परिसर, अल्मोड़ा कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

ऊपर से छिद्र भी छोड़ देते हैं। इस प्रकार मोम पर बने हुए आकल्प का प्रभाव मिट्टी पर भी छप जाता है। इस परत के सूख जाने पर साँचे पर पिघली धातु प्रवाहित करते हैं। इस प्रक्रिया में मोम वाष्पीकृत हो जाती है तथा उसका स्थान पिघला हुआ धातु ले लेता है। मिट्टी के खोल को तोड़कर कलाकृति को प्राप्त कर लेते हैं और बाद में भीतर की मिट्टी को भी हटा लिया जाता है। अन्त में इस शिल्प को घिस कर पॉलिश कर लिया जाता है।

ढोकरा कलाकार अपने लोक जीवन, धर्म, परम्पराओं, मान्यताओं आदि की अमूल्य धरोहर को 'ढोकरा कला' के माध्यम से संजोते आये हैं। इनकी आडम्बर रहित सरल जीवन शैली के दर्शन अनायास ही इनकी कलाकृतियों के रूपाकारों में भी परिलक्षित होते हैं। इनके शिल्पों के विषय निम्न है—

समृद्धि सम्बन्धी मूर्ति शिल्प: ढोकरा कलाकारों द्वारा सुख-समृद्धि की पूर्ति हेतु अनेक यन्त्रों का निर्माण किया गया है, जिन्हें आसानी से लोगों द्वारा खरीदा जा सकता है। इनमें मुख्यतः कच्छप, केकडा, सूर्य, वृश्चिक, घोड़े, हाथी आदि प्रमुखतः प्रतीक स्वरूप निर्मित किये जाते रहे हैं। प्रतीकों में कलाकारों ने जिस कल्पनाशीलता के साथ निर्मित किया वह दर्शनीय है।

दैनिक जीवन सम्बन्धी मूर्ति शिल्प: दैनिक जीवन सम्बन्धी अनेक वस्तुएँ ढोकरा कलाकारों की सृजनशीलता का अंग रही हैं। जिनमें कैण्डल स्टैन्ड, गुलदस्ते, पैन स्टैन्ड, घंटी इत्यादि उपयोगी वस्तुएँ भी निर्मित की जाती रही हैं। इसके साथ ही उपयोगी वस्तुओं जैसे बटुआ, चारपायी आदि को भी शिल्पकारों ने धातु में रूपांकित किया है।

लोक जीवन, धार्मिक एवं अन्धविश्वास सम्बन्धी मूर्ति शिल्प: इन जनजातीय कलाकारों की अपनी धार्मिक मान्यताएँ एवं परम्पराएँ रही हैं, जिनका दिग्दर्शन उनकी कलाओं से सरस ही हो जाता है। आस्था एवं अन्धविश्वास का अद्भुत संगम ढोकरा कला में देखा जा सकता है। इन विषयों के अन्तर्गत जनजातीय देवी-देवताओं, वन्य राजाओं, जनजातीय नर्तक एवं हिन्दू देवी-देवताओं के अतिरिक्त विभिन्न क्रियाओं में तल्लीन स्त्री-पुरुषों को विविध मुद्राओं में उनके भावानुसार बनाया गया है।

ढोकरा शिल्प के रूपाकार सरल होते हुए भी अपनी मौलिकता रखते हैं। वस्त्राभूषणों में अलंकरणों की विविधता तथा अप्रतिम कलात्मकता रही है। इस प्रकार ढोकरा कलाकारों की रचनात्मकता के दर्शन उनके द्वारा सृजित प्रत्येक कलाकृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। समय के साथ तथा बाजार की माँगानुसार इनकी कलाकृतियों के विषयों में भी नवीनता का समावेश हुआ है।

आज ढोकरा कला को देश ही नहीं अपितु विदेशों में भी पहचान मिल रही है। मीरा मुखर्जी⁶ सरिके कलाकार ढोकरा कला की पद्धति से ही नहीं अपितु शिल्पाकृतियों की टेक्सचर से भी प्रेरित रहे हैं। इन सबके बावजूद ढोकरा कलाकारों का अपनी सृजनात्मता के लिए संघर्ष जारी है। इनके लिए अनेक प्रोत्साहन एवं संरक्षण की योजनाएँ चलने के

पश्चात् भी इनकी आर्थिक स्थिति सोचनीय बनी हुई है। कभी-कभी शिल्पियों को शिल्प के लागत मूल्य से भी समझौता करना पड़ता है।⁷ इन विषम परिस्थितियों के होते हुए भी यह कलाकार निरन्तर कला साधना में लीन हैं एवं नित-नवीन कलाकृतियों का सृजन करते रहे हैं।

सन्दर्भ—

1. <https://en.wikipedia.org/wiki/Dhokra>
2. **Kochhar, Rajesh**, Dhokra: The Traditional Art of Metal Casting, Chitrolekha International Magazine on Art and Design, Vol. 1, No. 2, August, 2011, पृ०स०—5
3. मागो, प्राण नाथ, अनु० सौमित्र मोहन, भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, वसंत कुंज, नई दिल्ली, 2011, पृ०—187
4. <http://www.bastararts.com/dhokracraft.asp>
5. अमन, अवधेश, ढोकरा मूर्तिकला—एक जनजातीय सृजन—उत्कर्ष, कला दीर्घा, अक्टूबर 2012, Vol.-13, No. 25, पृ०—38
6. मागो, प्राण नाथ, अनु० सौमित्र मोहन, भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, वसंत कुंज, नई दिल्ली, 2011, पृ०—187
7. अमन, अवधेश, ढोकरा मूर्तिकला—एक जनजातीय सृजन—उत्कर्ष, कला दीर्घा, अक्टूबर 2012, Vol.-13, No. 25, पृ०स०—39

कौशाम्बी का बौद्ध कला केन्द्र के रूप में अध्ययन

डॉ. अरविन्द सिंह गौड़*

महाजनपद काल में वत्स की राजधानी कौशाम्बी 25° 20' 30" अक्षांस, 81° 23, 12" देशान्तर में अवस्थित है।¹ यह भारत की प्राचीन एवं महत्वपूर्ण नगरी के रूप में प्रख्यात रही है। महाकाव्यों में भी इसका उल्लेख हुआ है। यह नगर गंगा-यमुना दोआब में यमुना के तट पर स्थित था। महाभारत के अनुसार राजा कुशाम्ब ने इस नगर की स्थापना की। पुराणों में वर्णन है कि गंगा की बाढ़ से हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने के पश्चात् पाण्डव राज निचक्षु ने यहाँ अपना राज्य स्थापित किया।²

कौशाम्बी में मानव निवास का प्रारम्भ 11वीं-12वीं शताब्दी ई. पू. में हुआ। हड़प्पा की तरह कौशाम्बी में भी रक्षा प्राचीर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसका समय 10वीं-11वीं शताब्दी है। 600 ई. पू. में कौशाम्बी बौद्ध मतावलम्बियों का महत्वपूर्ण केन्द्र था। यहाँ बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनेक विहारों यथा घोषिताराम, बदरीकाराम, परिव्राजिकाराम, कुवकुटाराम आदि का उल्लेख साहित्य में है।³ कौशाम्बी की पुरातात्विक सम्पदाओं का अध्ययन कौशाम्बी कला के क्रमिक विकास एवं अनेक चरणों को दर्शाता है।

मृन्मूर्ति कला

कौशाम्बी में मृन्मूर्तिकला का महत्वपूर्ण स्थान है। यह भारत के पुरातनस्थलों में से एक है जहाँ विभिन्न कालों की मृन्मूर्ति प्राप्त हुई हैं। मृन्मूर्तिकला का प्रारम्भ पूर्व मौर्यकाल से होता है, हालांकि इस काल की मृन्मूर्तियाँ बहुत ही कम तादात में मिली हैं। इसमें मानव आकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इस काल की मृन्मूर्तियाँ 'अपक्व',⁴ 'अर्द्धपक्व'⁵ और 'सुपक्व'⁶ प्रकार की हैं और वे सामान्य लाल रंग के अलावा धूसर (हल्का लाल) रंग की हैं।⁷ कुछ मृन्मूर्तियों में काला, लाल तथा धूसर लेप किया गया है तथा कुछ चमकीले कृष्ण वर्ण की हैं। ये मृन्मूर्तियाँ हस्त-निर्मित हैं। नारी मृन्मूर्तियाँ मातृदेवी की द्योतक हैं।

कौशाम्बी से प्राप्त मौर्यकालीन मूर्तियाँ वक्सर तथा पाटलिपुत्र की मौर्य मूर्तियों की तरह हैं। ये मौर्यकालीन मूर्तियाँ मुख्यतः सुपक्व हैं इसके अतिरिक्त कुछ अर्द्धपक्व भी हैं।⁸ इस पर चुने का लेप भी किया गया है।¹ इस काल की मूर्तियाँ तीन प्रकार की निर्मित हैं। कुछ मूर्तियाँ पूरी तरह से हस्त निर्मित हैं जो कि निम्न स्तर से प्राप्त हैं। कुछ मूर्तियाँ सांचे द्वारा निर्मित हैं।¹⁰ जबकि कुछ का केवल शिरोभाग सांचे से निर्मित है। इन मूर्तियों की बनाव स्पष्ट, मुखाकृति गोल एवं अण्डाकार है। स्त्री मूर्तियाँ आभूषणों से सुशोभित हैं। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी से मौर्यकालीन पशुओं की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें हिरण, अश्व, हाथी एवं गैण्डा की मूर्तियाँ शामिल हैं, ये हस्त निर्मित हैं।

*आधुनिक विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, गुरुवायूर परिसर, त्रिशूर केरल।

शुंग काल में मृण्मूर्तिकला अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी। इस काल में निर्माण शैली का अत्यधिक विकास हुआ। शुंगकालीन कौशाम्बी मूर्ति कला का एक प्रमुख केन्द्र था।¹² शुंगकालीन मूर्तियाँ मुख्य रूप से हस्तनिर्मित हैं जो लौकिक एवं देव मूर्तियाँ दो वर्गों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। कुषाणकाल में पाषाण मूर्तियों की अधिकता है जिससे मृण्मूर्तियों की संख्या में कमी आई।

सर्वप्रथम इस काल में ही विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की पाषाण मूर्तियों का निर्माण हुआ।¹³ घोषिताराम के उत्खनन से कुबेर की मुखाकृति एवं चरण भाग प्राप्त हुआ है। यह मूर्ति यहाँ स्थित हारीति मंदिर से प्राप्त हुई है। हारीति की कुछ मूर्तियाँ कौशाम्बी से प्राप्त हुई हैं जिसमें सर्वप्रमुख मूर्ति घोषिताराम के उत्खनन से प्राप्त हुई जो राजलक्ष्मी तथा कुबेर के साथ मंदिर में स्थापित थी।¹⁴ यह मूर्ति विशाल आकार की है। गुप्तकाल में उत्तर भारत में अनेक मूर्तिकला के केन्द्र मथुरा, श्रावस्ती, अहिछत्र, राजघाट एवं भीटा अस्तित्व में आए। इस काल की मृण्मूर्तियाँ अधिकांशतः खण्डित हैं, जो साँचे द्वारा निर्मित है। गुप्तकालीन मूर्तियों में स्त्री मूर्तियों की संख्या अधिक है।

स्तम्भ

कौशाम्बी में प्रस्तर स्तम्भ का आरंभ मौर्यकाल से होता है। यहाँ मौर्यकाल में दो प्रस्तर स्तम्भ स्थापित थे। एक प्रस्तर स्तम्भ अपने मूल स्थान पर अवस्थित है। और दूसरा स्तम्भ वर्तमान में इलाहाबाद के किले में स्थित है।¹⁵ प्रथम लेख रहित, एकाक्षक है किन्तु इसका शीर्ष भाग खण्डित अवस्था में है। अशोक कालीन अनेक स्तम्भों में लेख उत्कीर्ण नहीं है। कौशाम्बी के इन स्तम्भों की रचना इलाहवाद, दिल्ली, लौरिया नंदनगढ़ आदि स्तम्भों के समान है।

कौशाम्बी का दूसरा प्रस्तर वर्तमान में इलाहाबाद दुर्ग में स्थित है, यह एकाक्षक है। इसकी कुल ऊँचाई 42 फुट, 7 इंच तथा भूमि से 34 फुट ऊँचा है।¹⁷ इसका शीर्ष भाग खण्डित है। ये दोनों प्रस्तर स्तम्भ चुनार के पथरों से निर्मित है और ये मौर्यकालीन विशेष पॉलिस द्वारा शीशे के समान चमकदार हैं।

स्तूप एवं विहार

साहित्यिक स्त्रोतों से कौशाम्बी में अनेक विहार एवं स्तूपों की जानकारी मिलती है। यहाँ हुए उत्खनन से केवल एक ही विहार घोषिताराम का पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त होता है। उत्खनन से घोषिताराम के 16 संरचना-कालों की जानकारी मिलती है।¹⁸ यह चतुर्भुजकार है। चतुर्दिक अलिन्दों के मध्य प्रांगण में एक विशाल एवं अनेक लघु स्तूप थे। अलिन्दों के पीछे भिक्षु कक्ष निर्मित किए गए थे, इसके अतिरिक्त विहार के चारों ओर रक्षा प्राचीर निर्मित की गई थी। घोषिताराम के सबसे प्राचीन निर्माण स्तर में उत्तरी कृष्ण मार्जित भाण्ड, मिले हैं।¹⁹ इससे स्पष्ट है कि इसका आरंभ 5वीं एवं 6वीं शताब्दी ई. पू. में हुआ होगा। मुख्य स्तूप

की रचना 5वीं शती ई. पू. में प्रारंभ हो चुकी थी। स्तूप की तीसरी अवस्था अधिक महत्वपूर्ण है जो संभवतः अशोक द्वारा निर्मित हुआ था। कालान्तर में हूणों के आक्रमण से घोषिताराम विहार नष्ट हो गया।

प्रस्तर मूर्ति कला

कौशाम्बी के शिल्पियों ने प्रस्तर मूर्तिकला को एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र शैली के रूप में विकसित किया। यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन कला केन्द्र होने के कारण मथुरा एक प्रमुख शिल्प केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था। प्रथम बुद्ध मूर्ति के निर्माण का श्रेय मथुरा शिल्पियों को कहा जाता है। कुषाणकाल में गंधार को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी बुद्ध मूर्ति का निर्माण नहीं हो पाया था। अतः बौद्ध केन्द्रों में जहाँ भी बुद्ध मूर्ति की आवश्यकता थी मथुरा से ही आयात की गई। कौशाम्बी भी अत्यन्त महत्वपूर्ण बौद्ध केन्द्र था, अतः कनिष्क के दूसरे वर्ष में ही यहाँ भी मथुरा से मूर्ति आयातित की गई। चूंकि कौशाम्बी में कुशल शिल्पियों की अधिकता भी परिणामस्वरूप उन्होंने मथुरा द्वारा स्थापित कलात्मक प्रतिमानों के आधार पर बुद्ध प्रतिमानों का निर्माण प्रारंभ कर दिया। इसी कारण कौशाम्बी से प्राप्त बुद्ध प्रतिमाओं में कुछ मथुरा की एवं कुछ स्थानीय प्रभाव है।

घोषिताराम के उत्खनन से बोधिसत्व की एक स्थानक मुद्रा में मूर्ति प्राप्त हुई है। कौशाम्बी से प्राप्त मथुरा की कलाकृतियों में बुद्ध मूर्ति का शिरोभाग भी है²⁰ और इसकी नासिक खण्डित है। ये प्रतिमा मथुरा से आयातित थीं। घोषिताराम से बुद्ध की एक स्थातक मूर्ति की प्राप्त हुई है²¹ जो मथुरा के विरीत सारनाथ की परम्परा के समान है मूर्ति के सम्पूर्ण पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल निर्मित है। प्रभावलि नीचे से ऊपर की ओर चौड़ी होती जाती है जबकि ऊपरी भाग का आकार गोल है।

कौशाम्बी से एक अन्य बुद्ध की खण्डित प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसके पृष्ठभाग में भीमवर्मन का संवत् 130 (208 ई.) लेख उत्कीर्ण है।²² इस मूर्ति का प्रभामण्डल सिंहनख से युक्त है जो कुषाण परम्परा के प्रभाव का सूचक है। यह ध्यातव्य है कि इस मूर्ति का मस्तक मानकुअर से प्राप्त बुद्ध की प्रतिमा के समान मुण्डित है।²³

गुप्तकाल में कौशाम्बी कला निरन्तर विकास करती रही। कौशाम्बी से अनेक गुप्तयुगीन पाषाण प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जिनमें लौकिक तथा देवमूर्तियाँ दोनों ही शामिल हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि गुप्तकालीन कला में प्रतिमाओं के प्रत्येक अंग भावों को व्यक्त किया गया। शिल्पी हस्त एवं पाद दोनों की ही रचना में सजग है। यही कारण है कि शिल्पियों ने उनका चित्रण अत्यन्त कलात्मकता के साथ किया है। गुप्तकालीन कला में केश सज्जा में जो विविधता है वह किसी अन्य कला में नहीं। केशों को आभूषणों अथवा पुष्पमालाओं से सजाया गया है। यह विशेषता कौशाम्बी की मूर्तियों में भी मिलती है।

कौशाम्बी के उत्खनन में मूर्तियों के बहुसंख्यक शिरोभाग प्राप्त हुए हैं²⁴ इनमें से अधिकांश बोधिसत्व प्रतीत होते हैं। बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियाँ भी यहाँ से प्राप्त हुई हैं,

परन्तु एक भी मूर्ति पूर्ण नहीं है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संग्रहालय में 4 खण्डित बोधिसत्व मूर्तियाँ हैं और से सभी खण्डित हैं²⁵ इन मूर्तियों की रचना शैली अत्यन्त परिष्कृत है। ये अल्प आभूषण भी धारण किए हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि आभूषण बौद्ध देवताओं के समाज में प्रचलित नहीं था। अपवादस्वरूप इंडियन् म्यूज़ियम् कलकत्ता में स्थित मंजूवर बोधिसत्व की एक प्रतिमा में दृष्टिगत होता है²⁶।

गुप्तकाल की एक अन्य खण्डित प्रतिमा धर्म चक्र प्रवर्तन में है²⁷ इसमें बुद्ध के दोनों कंधे पारदर्शक संघाटी से ढंके हुए हैं। इस प्रतिमा में सारनाथ मूर्तिकला के विपरीत भुजाओं पर गहरी रेखाओं द्वारा चुन्नटें दर्शाई गई हैं।²⁸

इस प्रकार स्पष्ट है कि कौशाम्बी की बौद्धकला अपने में एक स्वतंत्र शैली थी जो उसे समकालीन अन्य महत्वपूर्ण बौद्ध कला केन्द्रों यथा मथुरा एवं सारनाथ से पृथक् एवं विशिष्ट रूप प्रदान करती है।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. जी. आर. शर्मा, हिस्ट्री टू पी हिस्ट्री, पृ.सं.5
2. विष्णुपुराण 4.21,7-81
3. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ.सं. 225
4. मैक्वायर्स ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, संख्या 745
5. एक्सकेवेसन एट कौशाम्बी 1158-59 प्लेट 44.1,2
6. वही, प्लेट 44.3
7. वही, प्लेट 44.8, टेराकोटाज इना इलाहाबाद म्यूजियम, पृ.सं. 10
8. मैक्वायर्स ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ.सं. 54-55
9. एक्सकेवेसन एट कौशाम्बी, 1957-59 पृ. सं 75
10. मैक्वायर्स ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ. सं. 74
11. वही, पृ. सं. 74
12. वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डियन आर्ट, पृ. सं. 311
13. वही, पृ. सं. 216-18
14. हिस्ट्री टू पी हिस्ट्री, पृ. सं. 48
15. वासुदेव शरण अग्रवाल, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ. सं. 63
16. वही, पृ. सं. 129
17. एस. पी. गुप्ता, दी रूट्स ऑफ इण्डियन आर्ट, दिल्ली 1980, पृ. सं. 21
18. इण्डियन आर्कियोलोजिकल रिव्यू, 1955-57, पृ. सं. 10
19. वही, पृ. सं. 20

20. हिस्ट्री दू. प्री. हिस्ट्री, पृ. सं. 35
21. इण्डियन आर्कियोलोजिकल रिव्यू 1955—57, पृ. सं. 29
22. अमलानंद घोष कोसम स्टोन इमेज इन्सक्रिप्सन ऑफ महाराज भीमवर्मन, संवत् 130
23. राजकीय संग्रहालय, लखनऊ. सं. 70
24. हिस्ट्री दू. प्री. हिस्ट्री, पृ. सं. 37—38
25. वही पृ. सं. 39,55
26. विनयघोष भटाचार्य, बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी पृ. सं. 197—18
27. कौशाम्बी म्यूजियम्, सं. 407
28. कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट पृ. सं. 60.74,85

संगीत का व्यवसायिक पक्ष

हिमांशु जोशी*

सार—संक्षेप

शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य नैतिक और बौद्धिक विकास के साथ ही व्यक्ति को आर्थिक रूप से सबल करना भी है। दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति के अपने सामाजिक स्तर को बेहतर बनाने में शिक्षा न सिर्फ नैतिक बल्कि आर्थिक रूप से भी महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। यहाँ हम संगीत विषय की बात कर रहे हैं, इसलिए संगीत के व्यवसायिक पक्ष एवं उसके व्यवसायीकरण से होने वाले लाभ एवं हानियों को ही लेखन के केन्द्र में रखा जायेगा।

शोध—पत्र

प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहते हुए अपने जीवनयापन के लिए अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई न कोई व्यवसाय अपनाता ही है। वर्तमान में जीवन की जटिलताओं के कारण यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है। अतः संगीत साधना में रत व्यक्ति के लिए भी अनेक कठोरताओं के कारण न्यूनाधिक रूप में जीविकोपार्जन करना आवश्यक हो गया है। इसी कारण संगीत आदि ललित कलायें भी व्यवसाय की श्रंखला में सम्मिलित हो गई हैं।^[1] अर्थोपार्जन को शिक्षा का उद्देश्य मानकर यदि शिक्षा की व्यवस्था की जाय तो लाभ यह होगा कि छात्र को शिक्षण के दौरान एक लक्ष्य दृश्य होगा व वह जीविकोपार्जन के लिए पूर्णतः तैयार हो जायेगा।^[2]

सभी ललित कलाओं की भाँति संगीत भी अपने दर्शक व श्रोताओं के साथ सीधे संवाद स्थापित करता है। संगीत के इसी गुण को आधार बनाकर संगीत साधकों ने देश, काल व परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए संगीत के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया। जिससे कि संगीत के द्वारा अर्थोपार्जन के कई मार्ग साधकों को दृश्य हो सके। सभी ने अपनी-अपनी रुचि व परिश्रम के अनुसार यथायोग्य क्षेत्रों को अपनाया। आज संगीत एक इण्डस्ट्री का रूप ले चुका है। अपनी रुचि को ध्यान में रखते हुए साधक अपनी योग्यता व परिश्रम के आधार पर संगीत व्यवसाय के क्षेत्र में नये आयामों को छू रहा है।

बदलते समय के साथ संगीत कला में भी विशिष्टीकरण के मत को हर्ष व उत्साह के साथ अपनाया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप संगीत से सम्बन्धित अनेक व्यवसाय हमारे समक्ष आ रहे हैं।^[3]

*शोधार्थी, संगीत विभाग, डी0एस0बी0 परिसर, नैनीताल (उत्तराखण्ड)

इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :-

1. संगीत शिक्षक के रूप में :-
2. (क) प्रत्यक्ष मंच प्रदर्शक (कलाकार) के रूप में :-
 - (i) व्यक्तिगत मंच प्रदर्शक,
 - (ii) प्रायोजकों के माध्यम से मंच प्रदर्शन
- (ख) अप्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन,
3. शास्त्रकार एवं रचनाकार के रूप में,
4. ध्वन्यांकन पद्धति द्वारा व्यवसाय,
5. संगीत आलोचक के रूप में व्यवसाय,
6. पार्श्व संगीत द्वारा व्यवसाय,
7. गीतकार के रूप में,
8. संगीत निर्देशक के रूप में,
9. गीत लेखक के रूप में,
10. वाद्य निर्माता के रूप में,
11. कैसेट, सीडी0 निर्माता के रूप में,
12. संगीत चिकित्सक के रूप में।

इसके अलावा भी ऐसे कई क्षेत्र हैं जहाँ संगीत को केन्द्रबिन्दु बनाकर अर्थोपार्जन किया जा सकता है। आज संगीत मोक्ष प्राप्ति का साधन ही नहीं अपितु धन प्राप्ति का भी सशक्त साधन बन गया है।

विज्ञान के क्षेत्र में तरक्की के कारण संगीत के क्षेत्र में भी कई परिवर्तन दृष्टिगोचर हुये हैं आने वाले समय में व्यवसायिक दृष्टि से जहाँ संगीत के क्षेत्र में कार्यभार बढ़ेगा वही लोगो को इस क्षेत्र में रोजगार भी प्राप्त होगा, ऐसी आशा है।

हर पक्ष के अपने लाभ एवं हानियाँ होती हैं। बीते कुछ दशकों में संगीत में व्यवसायीकरण के कारण प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कई परिवर्तन हुये हैं। इन परिवर्तनों से संगीत के व्यवसायिक पक्ष के कई लाभ सामने आये हैं तो कुछ हानियाँ भी दृष्टिगोचर हुई हैं।

संगीत के व्यवसायिक पक्ष के लाभ :-

1. **सामाजिक लाभ**— संगीत के क्षेत्र से जुड़े व्यक्ति को समाज में सम्मानीय दृष्टि से देखा जाता है। आज कलाकार की सामाजिक प्रतिष्ठा में बढ़ोत्तरी हुई है।

2. **शैक्षणिक लाभ** — संगीत के अधिक प्रचार व प्रसार के कारण आज संगीत को अन्य विषयों की भाँति महत्व दिया जाने लगा है। आज संगीत में उच्च शिक्षा प्राप्त करना पहले की तरह मुश्किल प्रतीत नहीं होता।
3. **आर्थिक लाभ** — संगीत के व्यवसायिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए युवाओं ने संगीत के प्रति अत्यधिक रुचि दिखाई है। इस क्षेत्र से उनके जीविकोपार्जन का मार्ग भी प्रशस्त हुआ है।
4. **धर्म के प्रचार—प्रसार में संगीत** — आजकल संगीत को माध्यम बनाकर धर्मगुरु हर आयुवर्ग तक पहुँचते हैं। खासकर युवावर्ग जो कि वैचारिक मंथन करते हुए यहाँ वहाँ भटकता रहता है। इन सांगीतिक कम धार्मिक प्रस्तुतियों से उनका मार्गदर्शन होता है व वे धर्म के असली रूप को भी समझने लगते हैं।
5. **राष्ट्रीय सहिष्णुता (एकता) में सहायक** — संगीत के माध्यम से विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्धित लोग एक—दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। फलस्वरूप आपसी सौहार्द और प्रेमभाव को अधिक बल मिलता है।
6. **कलाकारों व श्रोताओं के बीच घटती दूरी** — कला के व्यवसायीकरण ने कलाकार और श्रोता के बीच की खाई को काफी हद तक पाट दिया है। आज कला एक वर्ग विशेष की हद से निकलकर सभी वर्गों के श्रोताओं को समान रूप से आनन्दित कर रही है।
7. **सांस्कृतिक लाभ** — संगीत के द्वारा सांस्कृतिक सौहार्द बनाये रखने में बहुत सहायता मिलती है, चूँकि यह एक माध्यम की तरह काम करता है। इससे विभिन्न संस्कृतियों से ताल्लुक रखने वाले व्यक्तियों का मेल होता है व एकरसता और सम्भावना का प्रस्फुटन होता है।
8. **राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में बढ़ौत्तरी** — आज संगीत एक इण्डस्ट्री के रूप में उभर रहा है जिसके अन्तर्गत हजारों करोड़ का व्यापार होता है। इन सबका लाभ राष्ट्रीय आय में वृद्धि करता है व कई लोगों को जीविका चलाने का साधन प्रदान करता है।

संगीत के व्यवसायिक पक्ष के दुष्प्रभाव —

1. **गुरु—शिष्य परम्परा को हानि** — संगीत के व्यवसायीकरण से गुरु—शिष्य परम्परा, जो कि भारतीय शास्त्रीय संगीत की नींव है, को गहरा आघात पहुँचा है। इसकी वजह से शिष्यों की गुणवत्ता में भी कमी आई है।
2. **पारम्परिक वाद्यों का विलुप्तिकरण** — इलेक्ट्रानिक वाद्य यंत्रों से आज हमें अनेक वाद्यों की ध्वनि प्राप्त हो सकती है। जिससे कि मूल वाद्यों का प्रयोग पहले की अपेक्षा कम हो गया है।
3. **राग के समय सिद्धान्त में शिथिलता** — व्यवसायीकरण की ओर रुख करते ही

संगीत ने सबसे बड़ा समझौता अपने सिद्धान्तों से किया है। व्यवसायिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए राग का समय ऋतु सिद्धान्त कहीं पीछे छूटता दिखाई पड़ता है।

4. **नैतिक मूल्यों का पतन**—संगीत का व्यवसाय करने वाले वही बनाना पसन्द करते हैं जो बिकने योग्य होता है। इस प्रकार से बनाये हुए संगीत में मधुरता, मौलिकता व कई बार नैतिकता का भी पूर्णतः अभाव रहता है।^[4]
5. **कलाकारों का देश से पलायन**—वर्तमान में कलाकारों को प्रदर्शन हेतु विदेशों में बुलाया जाता है व अत्यधिक राशि भी प्रदान की जाती है। इससे कलाकारों में विदेश में जाकर बसने का आकर्षण बढ़ता जा रहा है।^[5]
6. **कलाकार व दर्शकों के बीच बढ़ती दूरी**—आज सीडी, इन्टरनेट व टीवी आदि के माध्यम से किसी भी व्यक्ति विशेष के गीतों का आनन्द घर बैठे लिया जा सकता है। जिससे कि अप्रत्यक्ष रूप में कलाकार व श्रोता के बीच दूरी बन गई है।
7. **इलैक्ट्रानिक उपकरणों के प्रयोग से मंच प्रदर्शन में आये बदलाव**—वर्तमान में किसी भी कलाकार की प्रस्तुति पूर्णतः इलैक्ट्रानिक उपकरणों पर आधारित हो गई है। जिससे कई बार प्रदर्शक के मूल गुणों का ह्रास हो जाता है।
8. **संगीत पर टीवी कार्यक्रमों का बढ़ता प्रभाव**—दूरदर्शन प्रचार-प्रसार का एक शक्ति माध्यम है। पिछले दशक में टीवी पर संगीत पर आधारित कार्यक्रमों की होड़ सी मच गई है। यह कार्यक्रम प्रतियोगिता के आधार पर युवाओं को मंच प्रदान करने का दावा करते हैं। परन्तु इनके प्रायोजकों के मर्म में पैसा कमाने के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं होती। इन कार्यक्रमों के माध्यम से विजेता कलाकार कुछ समय तो चर्चा में रहते हैं परन्तु बाद में वे कहीं पीछे छूट जाते हैं। इससे युवाओं के मनोबल पर असर पड़ता है व उनकी संगीत साधना भी प्रभावित होता है।

संगीत के व्यवसायीकरण से उस पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव चिन्ताजनक तो हैं पर वे इतने दुष्कर भी नहीं हैं। यदि प्रयास किया जाए तो उनका प्रभाव काफी हद तक कम किया जा सकता व कुछ का तो पूर्णतः निदान भी सम्भव है। इस दिशा में कार्य निरन्तर हो रहे हैं।

इन सब लाभ-हानियों के मध्य हमें अपने ध्यान में यह रखना आवश्यक है कि हर पक्ष अपने आप में कुछ लाभ एवं कुछ हानियों समेटे हुए है। हमें संगीत के परिक्षेप में इसके व्यवसायिक पक्ष से होने वाले भाग को ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही दूसरे प्रभावों के निदान के लिए नित्य नये उपाय करने चाहित। क्योंकि “संगीत का अधिक से अधिक प्रचार एवं प्रसार हो “यह विचार सर्वोपरि है।

भारतीय संगीत का भविष्य निश्चित ही स्वर्णिम होगा इस पर हमें पूर्ण विश्वास है। यदि हम संगीत के व्यवसायीकरण से होने वाले लाभों को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ें तो परिणाम निश्चित ही आशापूर्ण होंगे।

पाद टिप्पणियाँ :

1. रानी, डा0 अर्चना, वैश्वीकृत युग में समकालीन कला विपणन, कला बाजार में विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं की भूमिका (संगीत कला के परिपेक्ष्य में), विजुवल आर्ट, ड्राइंग व पेटिंग विभाग, गर्ल्स पी0जी0 कॉलेज, मेरठ, 2012
2. ऋषितोष, डा0 कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2010
3. दत्ता, डा0 पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, पूनम गोयल, राज पब्लिकेशन्स, 2005, पृष्ठ 174
4. रानी, डा0 अर्चना, वैश्वीकृत युग में समकालीन कला विपणन, उद्योगों में संगीत कला की भूमिका, 2002 पृष्ठ 96
5. श्यामसुख धनराज, फिल्म संगीत पर पाश्चात्य प्रभाव, संगीत पत्रिका, संगीत कार्यालय, हाथरस, जनवरी, 1985

संदर्भग्रन्थ सूची

- ऋषितोष, डा0 कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, कनिष्क पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010
- कुमारी, डा0 आकांक्षी, भारतीय संगीत और वैश्वीकरण, कनिष्क पब्लिक डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2008
- दत्ता, डा0 पूनम, भारतीय संगीत – शिक्षा और उद्देश्य, पूनम गोयल राज पब्लिकेशन्स, 2005
- रानी, डा0 अर्चना, वैश्वीकृत युग में समकालीन कला विपणन, विजुवल आर्ट, ड्राइंग एवं पेटिंग विभाग, मेरठ, 2012
- शर्मा, भगवतशरण, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1955
- सक्सेना, डा0 मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1990
- संगीत पत्रिका, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1985

रामायण में वर्णित माताएँ—एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. सुमन भदौरिया*

रामायण के अनुसार नारी शब्द का अर्थ है नरों का उपकार करने वाली। ऋग्वेद में नारी शब्द 'नृ' धातु से निकला बताया गया है। 'नृ' का प्रयोग वीरता का काम करना, दान देना तथा नेतृत्व करने के अर्थ में हुआ है। स्त्री का नारी नाम भी इन्हीं विशेषताओं के कारण पड़ा प्रतीत होता है। नारियाँ युद्ध और शिकार में पुरुषों की सहायिका हुआ करती थीं और अतिथियों एवं भिक्षुकों को दान देने, उनका सत्कार आदि करने का भार भी इन्हीं पर था।¹

नारी की एक संज्ञा स्त्री भी है। 'स्त्री' शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है यास्क के अनुसार 'स्त्यै' का अर्थ लज्जा से सिकुड़ना है। नारी को स्त्री इसलिये कहते हैं कि वह लजाती है।² समाज में नारी के लिए इन प्रमुख दो शब्दों के अलावा कई शब्द प्रचलित हैं जैसे वामा, दुहिता, महिला आदि। भारतीय समाज में नारी को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। उसे त्याग एवं तपस्या का प्रतीक भी माना गया है। मनु के अनुसार नारी की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं द्वारा पूजा एवं अर्चना करनी चाहिए। स्त्री और श्री में कोई अन्तर नहीं है। यही नहीं जन्मदात्री होने के कारण नारी को भाग्यशालिनी तथा घर की दीप्ति भी कहा जाता है।³

नारी त्याग और तपस्या की जाज्वल्यमान विभूति है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के सम्मिलन से आर्य नारी का स्वरूप संगठित हुआ है। नारी जीवन का मूल मन्त्र हे त्याग और इस मन्त्र का सिद्ध करने की क्षमता उसे प्रदान की है तपस्या ने।⁴

इस प्रकार भारतीय समाज में नारी विषयक विभिन्न अवधारणाओं से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से आज तक की उसकी दशा में युग अनुरूप परिवर्तन होता आया है वस्तुतः समाज में नारी को एक ही साथ कई-कई स्तरों पर भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं पारिवारिक स्तर पर यदि वह किसी की बेटी है तो किसी की बहिन, पत्नी या माँ भी। सामाजिक स्तर पर संबंधों की यह श्रृंखला यही नहीं समाप्त होती बल्कि इसमें और भी अनेक कड़ियाँ आ जुड़ती हैं। जिन्हें नारी के अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता। समाज की बनावट तथा बुनावट को ध्यान में रखते हुए हर युग में नारी के मुख्य तथा गौण दो रूप दिखाई देते हैं। यदि उसके मुख्य रूप में कन्या, पत्नी और माता की गणना की जाती है तो उसके गौण रूप में भगिनी, सखी, दासी, परिचारिका आदि की। अतः समाज में नारी के मुख्य रूपों की अवधारणा उसके स्वरूप को परिभाषित करती है।

*शोध छात्रा इतिहास जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

‘रामायण’ में दशरथ की राजमहिषी कौशल्या का चरित्र बहुत उदार एवं आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। महाकवि ने यथार्थ और आदर्श के धरातल पर अनूठा चरित्रांकन प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि ने कौशल्या के मातृ रूप का चित्रण मानवीय धरातल पर किया है इसलिये उसके चरित्र में सामान्य नारी के सभी गुण दृष्टिगत होते हैं।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार कौशल्या कौशलराज की पुत्री है। वह दशरथ की पटरानी हैं इसीलिए अश्वमेघ यज्ञ में वह उन्हीं के साथ हर धार्मिक कार्य सम्पन्न करती हैं। कौशल्या के पूर्व जन्म का कोई उल्लेख रामायण में नहीं मिलता है। कौशल्या को परिव्रत्य धर्म की शिक्षा भी प्राप्त है। इसी कारण वनगमन से पहले वह सीता को पतिव्रत्य धर्म का उपदेश देती है।⁵

कौशल्या पतिव्रत धर्म का बड़े दृढ़ रूप से पालन करती रही, जिस कारण दशरथ अपने जीवन का अंतिम समय उसी के महल में बिताते हैं कौशल्या दशरथ को संकट के समय सही परामर्श भी देती है। राम के वनगमन के बाद दशरथ व्याकुल हो उठते हैं तो उन्हें कौशल्या कहती है कि ‘रघुनन्दन ! पुत्र को वनवास दे देना अन्याय है। यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे हैं ? उठिये, आपको अपने सत्य के पालन का पुण्य प्राप्त हो। जब आप इस तरह शोक करेंगे, तब आपके सहायकों का समुदाय भी आपके साथ ही नष्ट हो जाएगा। देव आप जिसके भय से सुमन्त्र जी से राम का समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ मौजूद नहीं है, अतः निर्भय होकर बात कहिये। इस प्रकार व्यंग में ही सही यहाँ कौशल्या सहधर्मिणी की भूमिका तो निभाती है।

कौशल्या भावुकता के कारण भले ही दशरथ को डांटती है, किन्तु उनसे अलग नहीं होना चाहती। क्योंकि वह जानती है कि नारी के लिए एक मात्र सहारा उसका पति है। कौशल्या को अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों का ज्ञान है, धर्म एवं लोक में बुरे-भले का भी उसे ज्ञान है। कौशल्या जानती है कि पति अपनी स्त्री के लिए इहलोक और परलोक में भी स्पृहणीय है। इस जगत में जो स्त्री अपने बुद्धिमान पति के द्वारा मनायी जाती है, वह कुलीन स्त्री कहलाने के योग्य नहीं। इसी कारण वह अपने हर अभद्र व्यवहार के लिए पति से क्षमता मांगती है। कौशल्या पातिव्रत धर्म के कारण ही दशरथ की मृत्यु के पश्चात् स्वयं भी दशरथ के साथ अग्नि का वरण करना चाहती है। पति के देहान्त के बाद अपना जीवन वह ब्रोपवास कर व्यतीत करती है, इस कारण वह दुर्बल भी हो गई है।⁶ राम महाकाव्यों में कौशल्या को राम की माता के रूप में अत्यधिक विस्तृत रूप में वर्णित किया गया है, दशरथ की पत्नी के रूप में कम। रामायण में कौशल्या के विशय में कहा गया है, कि वह राम की माता के रूप में

कैसे शोभा दे रही है जैसे इन्द्र को पाकर अदिति सुशोभित है। कौशल्या अपने पुत्र को ही अपने प्राणों का आधार मानती है। अपने पुत्र से वह बहुत प्रेम करती थी, इस कारण उसके राज्य—अभिषेक का समाचार सुनकर झूम उठती है। शुभ समाचार देने वाले को भाँति—भाँति के रत्न, स्वर्ण और गौए पुरस्कार रूप में देती हैं। इससे उनकी प्रसन्नता प्रकट होती है। पुत्र के उज्ज्वल भविष्य के लिए देवताओं की आराधना करती है। राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कौशल्या नारायण की आराधना करती है। कौशल्या अपने पुत्र पर इस समाचार से इसलिए अत्यधिक प्रसन्न हो उठती है, क्योंकि उन्होंने अपने पिता को प्रसन्न कर लिया था।⁷

रामायण की कौशल्या का हृदय ममता से आप्लावित है। इस कारण जब भी राम उनके भवन में जाते हैं, वह उनसे मिलने के लिए ऐसे दौड़कर जाती है जैसे घोड़ी अपने बछड़े को देखकर उससे मिलने के लिए दौड़ती है। जब भी राम उनसे मिलते हैं, तब उसे कौशल्या वात्सल्य के कारण अपनी छाती से लगा लेती है। राम का माथा चूमती है। राम के भोजन आदि की भी चिंता माता को बहुत सताती है, इस कारण युवराज अभिषेक के पहले उनसे कुछ खा लेने के लिए कहती है।⁸

रामायण की कौशल्या अपने पुत्र के अनिष्ट के विषय में सोच भी नहीं सकती। पुत्र के वनगमन का जिस समय समाचार कौशल्या सुनती है, उस समय वह बेहोश होकर गिर पड़ती है। उनकी अवस्था शोचनीय हो जाती है। इतना ही नहीं पुत्र को संकट में देखकर कौशल्या यहाँ तक कह देती है कि यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे उसी एक बात का शोक रहता, आज जो मुझे पर इतना भारी दुःख आ पड़ा है। इसे बन्ध्या होने पर मुझे नहीं देखना पड़ता। स्नेह एवं ममता के कारण राम से कहती हैं कि यदि तुम वन गए तो मैं अपने प्राण त्याग दूंगी जीवित नहीं रहूँगी। राम के भीतर प्यार के आधिक्य के कारण वह अपने सभी व्रत और उपास व्यर्थ मानने लगती है। राम के वनगमन के कारण वह विलाप करने लगती है। रामायण की कौशल्या राम को वनगमन से रोकती है। वह उसे पिता की आज्ञा न मानने तक कह देती है।

पुत्र के साथ ही कौशल्या भी वन जाना चाहती है, इस कारण राम से कहती है— ‘मैं तुम्हारे साथ तिनके चबाकर रहना भी अधिक श्रेयस्कर समझती हूँ।’ राम को वह डराती और धमकाती हुई कहती है यदि तुम मुझे छोड़कर जाओ तो तुम संसार प्रसिद्ध वह नरकतुल्य कष्ट पाओगे, जो ब्रह्म हत्या के समान है। कौशल्या समुद्र का उदाहरण भी देती है। इससे कौशल्या के वात्सल्यमय रूप का दर्शन होता है। कौशल्या को रोते देख स्वयं राम भी रो देते

हैं। राम माँ के वात्सल्य को देखकर विवश हो उठते हैं, इस कारण उन्हें अयोध्या में रोकने के लिए वे नारी धर्म की शिक्षा देने लगते हैं। परिणामस्वरूप कौशल्या राम को वनगमन की आज्ञा देती है।⁹

कौशल्या राम की रक्षा के लिए सभी देवताओं की प्रार्थना करती है और राम को कई प्रकार के आशीर्वाद भी देती है। वह चौदह वर्ष के बाद पुत्र के सकुशल लौटने की कामना करती है। वह आशावादी बन जाती है। इसी कारण राम से कहती है कि पिता की प्रतिज्ञा को पूर्ण करके जब तुम राजसिंहासन पर बैठोगे, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी। कौशल्या स्वस्तिवाचन करके एवं राम के मस्तक पर चन्दन और रोली लगाकर तथा सब मनोरथों को सिद्ध करने वाली 'विशल्य करणी' नामक शुद्ध औषधि लेकर रक्षा के उद्देश्य से मन्त्र का जाप कर राम की भुजा पर बाँध देती है।¹⁰

वाल्मीकीय कौशल्या के मन में कैकेयी के प्रति राम वनगमन के पूर्व किसी प्रकार का द्वेष भाव नहीं है। उनके इसी व्यवहार के कारण ही तो भरत राम के वनगमन के कारण दुःखी होकर कैकेयी से पूछते हैं कि मेरी बड़ी माता कौशल्या भी बड़ी दूरदर्शिनी है। वह धर्म का आश्रय लेकर तेरे साथ बहिन का सा बर्ताव करती है। जबकि कौशल्या को हमेशा कैकेयी की उपेक्षा का शिकार बनना पड़ा। राम वनगमन के समाचार को सुनकर उसे इस बात का दुःख है कि राम के पश्चात् उनकी छोटी सौतें उसका तिरस्कार करेंगी। यहाँ छाटी सौतों का सीधा अग्रि कैकेयी ही है। इसी कारण वह सीधे शब्दों में कहती भी हैं कि मैं कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी बीती समझी जाती हूँ। यदि कोई मेरी सेवा में रहता या मेरा अनुसरण करता है तो वह भी कैकेयी के बेटे को देखकर चुप हो जाता है।

वाल्मीकि कौशल्या में न केवल राम के प्रति बल्कि लक्ष्मणादि सौतेले पुत्रों के प्रति भी वात्सल्य का भाव है। दशरथ को कौशल्या जिस समय उपालम्भ देती है उस समय वे लक्ष्मण के प्रति भी चिंता व्यक्त करते हुए कहती हैं— 'आपने इस बात का विचार नहीं किया कि सुख में पले हुए आपके दोनों पुत्र सीता के साथ वनवास का कष्ट कैसे सहन करेंगे। वन प्रस्थान के समय कौशल्या कवेल राम का नाम लेकर ही आँसू नहीं बहाती बल्कि लक्ष्मण तथा सीता के नामों को भी पुकारती है।'¹¹

भरत के प्रति रामायण को कौशल्या पूरी तरह आश्वस्त है। किन्तु जब वह वनगमन का समाचार सुनती है तो भरत के प्रति उसके हृदय में संदेह उत्पन्न हो जाता है। दशरथ की मृत्यु के बाद जब भरत ननिहाल से वापस आता है तो कौशल्या भरत से मिलना चाहती है,

वह सुमित्रा से कहती है कि 'भरत बड़े दूरदर्शी हैं, अतः उन्हें मैं देखना चाहती हूँ। कौशल्या भरत एवं शत्रुघ्न को देख दुःख के कारण पृथ्वी पर मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती है। तब दोनों उनकी गोद में सटकर रोने लगे। वह भरत को अपनी छाती से लगा लेती है। वह शोक एवं दुःख से अत्यधिक व्याकुल होने के कारण भरत पर आरोप लगाते हुए कहती है बेटा तुम राज्य चाहते थे न ? वह तुम्हें प्राप्त हो गया। अब तुम मुझे जहाँ राम हैं वहाँ पहुँचा दो।'¹²

जिस समय सीता विवाह करके पहली बार अयोध्या आती है, उस समय कौशल्या अन्य रानियों के साथ उन्हें रथ से उतार के कार्य में जुट जाती है। उन्हें लेकर वह मंगल गीत गाती हुई घर में ले आती है और सीता से अपने कुल के इष्ट देवता की पूजा भी करवाती है।

रामायण में वनगमन के अवसर पर कौशल्या सीता को राम के साथ न जाने के लिए एक बार भी नहीं रोकती। कौशल्या राम को इस अवसर पर नारी धर्म का उपदेती है। पति को देवतुल्य मानने का आदेश भी देती हैं। सीता को अपनी पुत्री के समान आलिंगन करती है।¹³ जिससे सीता के प्रति उनका स्नेह एवं वात्सल्य स्पष्ट होता है। सीता कौशल्या को अपने अटल पातिव्रत्य का पूर्ण विश्वास दिलाती है, उस समय कौशल्या सीता को अपने छाती से लगा लेती है और उसका मस्तक सूँघती है। उसकी आँखों में आंसू उमड़ आते हैं। इससे स्पष्ट है कि उसे पुत्र के साथ वधू के बिछुड़ने का भी दुःख सन्तुष्ट करता है।¹⁴

जिस समय सीता राम के साथ वन की ओर प्रस्थान करती है उस समय कौशल्या राम के साथ सीता का नाम पुकारती हुई पागल की भाँति रथ के पीछे भागती है, इधर उधर दौडती है। कौशल्या बार-बार वन के दुःखों को याद कर सीता के प्रति विशेष चिंता व्यक्त करती है। वह कहती है कि सीता वन में फल खाकर कैसे रह सकेगी ? वह कहती है कि कब सीता को राम के साथ अयोध्या में देखेंगी।¹⁵

दशरथ से भी कौशल्या कहती है— 'आप समझदार हैं फिर भी आपने इस बात का विचार क्यों नहीं किया कि सीता एवं दोनों पुत्र वनवास के कष्ट कैसे सह सकेंगे।' वह सीता के विषय में कहती है :

सा नूनं तरुणी भयामा सुकुमारी सुखोचिता ।

कथुश्च न च भीतं च मैथिली विसहिश्यते ॥¹⁶

कौशल्या की विशेष चिंता यहाँ प्रकट है कि 'सीता सुन्दर व्यंजनों से युक्त सुन्दर स्वादिष्ट भोजन किया करती थी, अब वह जंगल की तिन्नी के चावल का सूखा भात कैसे

खायेगी ? सीता कैसे भयंकर मांसभक्षी सिंहों की अशोभन ध्वनि सुन सकेगी? इस प्रकार की कई चिन्ताएं कौशल्या को सता रही हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके हृदय में सीता के प्रति कितना प्रेम है। कौशल्या सीता के पिता के बारे में सोचकर भी चिंतित हो उठती है। वह कहती है— 'जो बूढ़े हो गये हैं, कन्याएं मात्र ही जिनकी संतति हैं, वे राजा जनक भी सीता की ही बारंबार चिंता करते हुए शोक में डूब कर अवश्य ही अपने प्राणों का परित्याग कर देंगे।

कौशल्या : रामायण की कौशल्या सदैव धार्मिक कार्यों में निरत रहती है। अश्वमेघ यज्ञ में वह सभी धार्मिक अनुष्ठानों को बड़ी पवित्रता से निभाती है। कौशल्या की देवताओं पर दृढ़ आस्था है। इस कारण जब वह राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनाती है तब वह अन्तःपुर में जाकर रेशमी वस्त्र पहन मोन हो देव मन्दिर में बैठकर देवता की आराधना करने लगती है और पुत्र के लिये राजलक्ष्मी की याचना करती है। वह वहाँ बैठकर प्राणायाम के द्वारा परम पुरुष नारायण का ध्यान करती है जिससे श्रीराम का मंगल हो। इससे यह संकेत मिलता है कि उसे योग का भी ज्ञान है। कौशल्या राम के राज्याभिषेक को भगवान् विष्णु के लिये किये गये व्रत, उपवास आदि का फल ही मानती है। राम के मंगल कामना के लिये वह राज्याभिषेक के एक रात पहले एकाग्र चित हो भगवान की पूजा करती है।¹⁷

नारी का मातृहृदय पुत्रसंयोग में जितने स्नेह, ममत्व, दुलार और वात्सल्य आदि का अनुभव करता है, उतना ही वियोगावस्था से वह व्याकुल एवं करुणाप्लावित हो जाता है। वाल्मीकीय कौशल्या तो राम के वनगमन का समाचार सुन इतनी शोकाकुल हो उठती है कि कवि कहते हैं कि अप्रिय समाचार सुन इतनी शोकाकुल हो उठती है कि कवि कहते हैं कि अप्रिय समाचार सुन कौशल्या वन में फरसे से कटी हुई शालवृक्ष की शाखा के समान सुन कौशल्या वन में फरसे से कटी हुई शालवृक्ष की शाखा के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी। वह अचते हो जाती है। कौशल्या राम के विरह को याद कर ही शोकग्रस्त हो उठती है। इस कारण वह कैकेयी भी भर्त्सना करती है। राम के साथ वन जाने को भी उद्यत हो उठती है। राम से बिछड़ जाने के कारण वह शोकाकुल हो दशरथ को उपालम्भ देती है। विरह के कारण ही वह अपना जीवन तक त्याग देने की बात कहती है।

कैकेयी— रामकथा ने नारी पात्रों में कैकेयी मुख्य पात्र है। आर्य—अनार्य संस्कृति के द्वन्द्वमें जो आर्य संस्कृति का जय घोष गूँज रहा है, उसकी मुख्य सूत्रधार कैकेयी ही है। कैकेयी अद्वितीय सुन्दरी थी। इस कारण दशरथ उस पर अत्यधिक मोहित है। कैकेयी को सभी कवियों ने लौकिक धरातल परचित्रित किया है, उसमें वे सभी मानवीय दुर्बलताएँ हैं जो अन्य साधारण मानव में होती है। कैकेयी केकयरज की कन्या है। ऐसा दोनों कवियों ने माना है। कैकेयी का विवाह दशरथ के साथ इस शर्त पर हुआ था कि उसका पुत्र ही राज क युवराज बनेगा।¹⁸

कवि ने प्रत्यक्ष रूप से कैकेयी के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया। फिर भी वाल्मीकि ने यह स्पष्ट किया है कि वह तरुणी है। दशरथ की सब रानियों से सुन्दर है। कवि ने उसके लिये 'शुभदर्शनें', शोने आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। आदिकवि क्रोधित हुई कैकेयी की तुलना इस प्रकार करते हैं :

लताभिव विनिश्कृत्तं पतितां देवताभिव ।।

वात्सल्य एवं ममता कैकेयी के हृदय में भी विद्यमान हैं। वात्सल्य के कारण ही तो कैकेयी दशरथ तक को त्याग देती हैं। अपने पुत्र को युवराज पद दिलाने की अभिलाषा के कारण ही दशरथ उसे अपने पत्नी के पद तक से च्युत कर देते हैं। कैकेयी वात्सल्य के कारण सभी नगरवासियों की घृणा का शिकार बनती हैं। सुमन्त्र और प्रधानमंत्री तक उसे फटकारते हैं। अपनी ममता एवं वात्सल्य के समक्ष अपने पति की मृत्यु भी उसे अधिक व्यथित नहीं करतीं भरत के घर आने पर कैकेयी हर्ष से भर जाती है और अपने सुवर्णमय आसन को छोड़ उछलकर खड़ी हो जाती है। चरण स्पर्ष करने वाले पुत्र का मस्तक सूँघकर उसका आलिंगन करके उसे गोद में बिठाकर उसका कुशल पूछती है। वह बड़ी सरलता से भरत से कहती है— 'तुम्हारे पिता महाराज दशरथ बड़े महात्मा, तेजस्वी, यज्ञशील और सत्पुरुषों के आश्रयदाता थे। एक दिन समस्त प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को वे भी प्राप्त हुए हैं।' ¹⁹

सुमित्रा— रामकाव्यों में यदि कोई पूर्णरूपेण शुद्ध और कल्मश रहित चरित्र किसी का चित्रित किया गया है, तो वह लक्ष्मण की ममतामयी, वात्सल्यमयी माँ सुमित्रा का है। वाल्मीकि ने सुमित्रा को पतिभक्त, सौम्य, शान्त, विचारशील, निष्कपट और असीम त्यागीभाव की गरिमा से मंडित किया है। सुमित्रा न तो कौशल्या की तरह पटरानी है और न ही कैकेयी की भाँति दशरथ की प्रिया। फिर भी सुमित्रा के चरित्र में कहीं भी मालिन्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

वाल्मीकि रामायण में सुमित्रा का उल्लेख पुत्रेष्टि यज्ञ से प्राप्त हविश्यान्न के विभाजन के प्रसंग में दशरथ की मंजली रानी के रूप में मिला है। दशरथ हविश्यान्न का अर्धांश कौशल्या को, शेष का अर्धांश सुमित्रा को और बचे हुए का आधा भाग कैकेयी को और अविशष्ट पुनः सुमित्रा को प्रदान करते हैं। ²⁰

सुमित्रा को दशरथ से किसी प्रकार की शिकायत नहं और न ही दशरथ में वे कौशल्या की तरह कोई दोष देखती है। सुमित्रा के हृदय में पुत्र के वनगमन से किसी प्रकार

का आवेश नहीं उत्पन्न होता। वैसे आदि कवि ने सुमित्रा के पति भक्त रूप का चित्र नहीं उकेरा। फिर भी अप्रतयक्ष संकेतों से उनका पतिव्रता रूप सामने आ ही जाता है। वे दशरथ को 'महात्मा' मानती है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वह दशरथ को कुटिल या कामी नहीं मानती। राम के वन प्रस्थान के बाद वह दशरथ के समीप ही रहती है। वह दशरथ के मृत शरीर को देखकर 'हा नाथ' की पुकार मचाती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ती है। कौशल्या की भांति वह दशरथ के साथ अपना देह नहीं त्यागना चाहती। सुमित्रा हर स्थिति में निर्विकार रहती है, वह हर संकट को बड़े ही शान्त भाव से सहन कर लेती है। उसके इसी स्वभाव को देखकर दशरथ उसे 'तपस्विनी' कहते हैं।²¹

सुमित्रा का कौशल्या से विशेष स्नेह एवं लगाव है। राम के राज्याभिषेक का समाचार सुन वह अपने पुत्र लक्ष्मण के कौशल्या के भवन में उनकी सेवा में उपस्थित रहती है। राम के वनगमन के पश्चात् वह सदैव कौशल्या के साथ रहती है। जिस समय कौशल्या पुत्र के विरह के कारण दुःखी हो गई थी, उस समय उनके शोक को कम करने के लिए राम की प्रशंसा करते हुए कहती हैं — 'देवि ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम जेसा पुत्र मिलचा है। श्रीराम से बढ़कर सन्मार्ग पर स्थिर रहने वाला मनुष्य संसार में दूसरा कोई नहीं। देवि तुम्हें तो इन सब लोगों को धैर्य बँधवाना चाहिए फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदय में इतना दुःख क्यों करती हो ?'²²

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति — 9/26
2. भारतीय साहित्य में नारी (कल्याण नारी विशेषांक) पृष्ठ 19
3. वैदिक साहित्य में नारी — रामगोविन्द त्रिवेदी पृष्ठ 132
4. प्राचीन साहित्य में नारी — गजानन शर्मा पृष्ठ 47
5. वाल्मीकिरामायण — 2/29/20
6. वाल्मीकिरामायण — 2/12/20-21
7. वाल्मीकिरामायण — 2/4/40
8. वाल्मीकिरामायण — 2/20/25
9. वाल्मीकिरामायण — 2/24/33
10. वाल्मीकिरामायण — 2/165/4
11. वाल्मीकिरामायण — 2/169/3
12. वाल्मीकिरामायण — 2/59/1

13. वाल्मीकिरामायण – 2 / 60 / 4
14. वाल्मीकिरामायण – अयोध्याकाण्ड
15. वाल्मीकिरामायण – अयोध्याकाण्ड
16. वाल्मीकिरामायण – अयोध्याकाण्ड
17. वाल्मीकिरामायण – अयोध्याकाण्ड
18. वाल्मीकिरामायण – 1 / 351 / 1
19. वाल्मीकिरामायण – 2 / 9 / 27
20. वाल्मीकिरामायण – अयोध्याकाण्ड
21. वाल्मीकिरामायण – 2 / 14 / 17
22. वाल्मीकिरामायण – 1 / 195 / 1

प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रण परम्परा

डॉ. अंजुलि रतनम्*

भारतीय चित्रकला के प्रसंग अनेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त है। नग्नजित् कृत “चित्रलक्षण”, श्री विष्णु धर्मोत्तरपुराण के अन्तर्गत चित्रसूत्र, चित्रकर्म, मानसोल्लास, शिल्पकलादीपिका, मानसार, विश्वकर्मप्रकाश, समसंगणसूत्रधार, शिल्पशास्त्र, मयमत, और शिल्परत्न आदि ग्रन्थों में चित्रकला के स्वरूप एवं उसकी संरचना प्रक्रिया के निर्देश स्पष्ट रूप से उपलब्ध हैं। नीचे उल्लेखित प्राचीन ग्रन्थों के आधीन चित्रकला-प्रसंगों का अध्ययन किया जा सकता है।

“चित्रलक्षण” में चित्र-प्रसंग के उत्तम निर्देश पाये गये हैं यह ग्रन्थ परम्परा-स्वरूप में सबसे प्राचीन माना जाता है। इसका मूल-ग्रन्थ अप्राप्य है, आज केवल तिब्बत भाषा से अनुवादित ग्रन्थ ही उपलब्ध है। यह ग्रन्थ केवल तीन अध्यायों तक ही प्राप्त है और इसके अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि यह एक अधूरी रचना है। इसके मंगलाचरण में कहा गया है कि यह विश्वकर्मा और नग्नजित् द्वारा निर्देशित लक्षणों का संग्रह है। इस ग्रन्थ की रचना का समय निश्चित करना बहुत कठिन है, लेकिन लेखक नग्नजित् गुप्तकाल से संबंधित माने जाते हैं अतः इस ग्रन्थ की रचना का काल भी गुप्ताकाल ही निश्चित किया जा सकता है। भरतसंहिता में यह संदर्भ अंकित है।

“चित्रसूत्र” श्री विष्णुधर्मोत्तरपुराण का परिशिष्ट है।¹ यह प्रसंग महत्वपूर्ण है। डॉ. रायकृष्णदास ने इस ग्रन्थ की रचना का समय 5वीं से 7वीं शताब्दी के बीच का निश्चित किया है।² यह ग्रन्थ चित्रण-प्रक्रिया के निर्देश निश्चित करता है,³ अतः इस ग्रन्थ का महत्व भी बढ़ गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के परिशिष्ट के एक अंश का ही नाम “चित्रसूत्र” है। “चित्रसूत्र” में चित्रकार को केवल चित्रणविद्या के ज्ञान से ही परिचित नहीं कराया गया है, वरन् उसकी चित्रण-प्रक्रिया के व्यावहारिक पक्ष की योजना भी सिखायी गयी है।⁴ इसमें चित्रण के आधीन शारीरिक लक्षण, नंग, आकृति-निरूपण, चित्रण-विधि एवम् संरचना-प्रक्रिया और उसके सैद्धान्तिक गुण आदि विषयों का सूत्रों में ज्ञान कराया गया है।⁵ संस्कृत भाषा में लिखित सूत्र बहुत ही सरल अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं।

मानसोल्लास, चिन्तामणि, शिल्परत्न और समरागण-सूत्रधार आदि का अन्य शिल्प तथा चित्रकला संबंधी ग्रन्थों के विवरण “चित्रसूत्र” पर ही आधारित है। इस बात की पुष्टि डॉ. रायकृष्णदास ने भी की है।⁶ “चित्रसूत्र” के सन्दर्भ में रंगों का वर्णन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के वर्णन में पूर्णतः मिलता है, केवल रसों की संख्या में ही भिन्नता पाई जाती है।

*शोध छात्रा (हिन्दी) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

“चित्रसूत्र” नौ रसों का विवरण प्रस्तुत करता है, जबकि नाट्यशास्त्र में केवल आठ रसों का ही वर्णन मिलता है।

“चित्रसूत्र” भारतीय चित्रकला के दर्शन एवं अध्याय को स्पष्ट करते हुए चित्रकार को विशेष दिशा—निर्देश देता हुआ प्रतीत होता है। “चित्रसूत्र” में मार्कण्डेय मुनि ने चित्र—सृजना के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है।

“मानसार” एक प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें चित्रकला और वास्तुकला दोनों का वर्णन मिलता है।⁷ यह गुप्तयुग ही माना गया है। यह ग्रन्थ कला के महत्वपूर्ण पक्षों का वर्णन करता है।⁸ यह ग्रन्थ 32 विधाओं के प्रसंगों को प्रस्तुत करता है। “मानसार” वास्तुविद्या की एक विस्तृत व्याख्या है। इस ग्रन्थ में वास्तुशिल्प के साथ—साथ उसकी उत्पत्ति और चित्रकर्म (आलेख्य चित्रकला) की प्रविधियों पर भी प्रकाश डाला गया है।⁹

समरागण सूत्रधार, शिल्परत्न, अपराजितपरीक्षा, वृत्तान्तप्रकरण, मयमत और शिल्पकलादीपिका आदि में भी चित्रकला संबंधी प्रसंगों प्राप्त होते हैं।¹⁰ भारतीय चित्रण परमार्थ की परम्परा के सिद्धान्तों का एक निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। चित्रकला सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। रामायणकाल के चित्रों का सम्बन्ध दस्तकारी से अधिक रहा था।¹¹ यह प्रसंग वाल्मीकि की रामायण के अलंकरण—सिद्धान्त की ओर संकेत करता है।¹²

भारत में अतिप्राचीन काल से ही चित्रण—अलंकरण की परम्परा रही है, जिसके प्रसंग रामायण, महाभारत, नाट्यशास्त्र, कामसूत्र, मेघदूत, मानसोल्लास, शिल्परत्न, समरागणसूत्रधार, श्रीविश्वधर्मोत्तरपुराण और चित्रणलक्षण आदि ग्रन्थों में विस्तार से पाये जाते हैं। भारतीय चित्रकला संस्कृति का अभिन्न अंग रही है।¹³ प्राचीन ग्रन्थों में चित्रसूत्र (चित्रण—सिद्धान्तों) का विस्तृत वर्णन मिलता है।¹⁴ इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में चित्रण—सिद्धान्तों का उल्लेख मिला है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में चित्रण—सिद्धान्तों के प्रसंग चित्रकार के मार्ग—दर्शन और चित्रण में प्रयोग करने के लिए लिखे गये हैं।¹⁵ इस प्रकार की चित्रण—परम्परा की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि आठवीं शताब्दी तक दिखलायी देती है। इसके बाद पुनः यह परम्परा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में जीवित हुयी।¹⁶ सातवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार काफी प्रभावशाली रहा और उसके बाद आठवीं शताब्दी से जैन धर्म ही भारत में फैला हुआ है। इस समय की पुस्तक “तिलक—मंजरी” में भी चित्रण—परम्परा और उसके सिद्धान्तों के प्रसंगों का उल्लेख है।¹⁷ इसके अतिरिक्त वैदिक युग से लेकर सातवीं और आठवीं शताब्दी तक का कुछ साहित्य भी ऐसा है, जिसमें चित्रकला की विवेचना मिलती है।¹⁸ भारतीय चित्रकला के प्रसंग में परम्परा और सिद्धान्तों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ “कामसूत्र” में लिखा है कि प्रथम शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक भारत में चित्रकला पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी। भारतीय चित्रकला को छः अंगों में भी बांटा जा चुका था। इस ग्रन्थ में कलाओं के वैज्ञानिक वर्गीकरण का उल्लेख है। कामसूत्र में वर्णित कलाओं के प्रसिद्ध टीकाकार यशोधर पण्डित (11वीं–12वीं शताब्दी) ने अपनी टीका “जयमाला” में कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय की टीका करते हुए चित्रकला के छः अंग बतलाये हैं :—

“रूपभेदाःप्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम् ।

सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं शङ्गम् ।।”¹⁹

रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग—ये भारतीय चित्रकला के शङ्ग हैं।²⁰ अर्थात्—विभिन्न रूपता, अनुपात के सिद्धान्त, भाव सौन्दर्य, स्वरूप एवं समानता के तत्त्व तथा कार्यपद्धति एवं प्रयोग सामग्री के सम्मिलित ज्ञान के द्वारा ही सफल चित्रण सम्भव हो जाता है। भारतीय चित्रकला की सैद्धान्तिकला इन शङ्गों पर ही आधारित दिखलायी पड़ती है, क्योंकि ये पूर्णरूप से भारतीय है।

प्राचीन साहित्य में भारतीय चित्रण परम्परा एवं सिद्धान्तों की विवेचना के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में चित्र प्रक्रिया, निर्माण योजना तथा रस अभिव्यक्तिकरण सम्बन्धित विस्तृत विवेचना के साथ—साथ चित्रों के प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। चित्र सूत्रकार चित्र विधान का वर्णन करता है। वात्स्यायन ‘कामसूत्र’ में कला के आवश्यक अंगों को बताता है। समरागण सूत्रधार चित्रण प्रक्रिया एवं रस निष्पत्ति के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रण—सिद्धान्तों के आधीन चित्रकार को बांधकर रखा गया है।

सन्दर्भ

1. बी.एन. गोस्वामी, एसेन्स ऑफ इंडियन आर्ट, पृ. 19 ।
2. डॉ. रायकृष्णदास, भारत की चित्रकला, पृ. 23 ।
3. श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय अध्याय—61, 67, 85 ।
4. डॉ. एस.बी.एल. सक्सेना, अजन्ता की चित्रकला में रस, पी—एच.डी. अप्रकाशित शोधग्रन्थ, कानपुर वि.वि., 1974, पृ. 229 ।
5. डॉ. रायकृष्णदास, पूर्वोक्त, पृ. 26 ।
6. वही, पृ. 23 ।
7. टी.बी. भट्टाचार्या, कैन्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ. 190 ।

8. बलराम श्रीवास्तव, नेचर ऑफ इंडियन ऐस्थेटिक्स विदस्पेशल रिफरेंस टू शिल्प, पृ. 80 ।
9. रामकुमार विश्वकर्मा, भारतीय चित्रांकन, पृ. 21 ।
10. प्रासादमण्डन 2/2 "अपारजितपरीक्षा, चै. 115/23-26 ।
11. कु. अलका सोती, अजनता चित्रण में कला के छः अंगों का सैद्धान्तिक मूल्यांकन, पी-एच.डी. शोधग्रन्थ, रुहेलखण्ड वि.वि., बरेली, 1986 पृ. 24 ।
12. बाल्मीकि रामायण, 5, 6, 7 व 9/121 24 ।
13. वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला, पृ. 28 ।
14. जार्ज सी.एम., डब्ल्यू. बुड, दि इंडस्ट्रियल आर्ट ऑफ इंडिया, पार्ट-1, पृ. 25 ।
15. श्री भेजदेव प्रणीतः (एस.एस.)/जी-बी-एस/वाल्सूम-25 एण्ड 32, बड़ौदा 1924, डेटेड 25 नवम्बर 1924/वाल्सूम-दो, पृ. 19 ।
16. एस.डी. मित्रा, कन्ट्रीब्यूशन टू ए बिबलियोग्राफी ऑफ इंडियन आर्ट एण्ड ऐस्थेटिक्स, पेज-9 ।
17. तिलक-मंजरी, पृ. 18 ।
18. डॉ. डी.एन. शुक्ला, शिल्पशास्त्र, भाग-2, पृ. 87 ।
19. कामसूत्र की जयमंगला टीका ।
20. डॉ. रायकृष्णदास, पूर्वोक्त, पृ. 4 ।

इतिहास लेखन की भारतीय अवधारणा

प्रो. के. रतनम्*

विद्वानों ने प्रत्येक युग में इतिहास—लेखन की आवश्यकता अनुभव की है। मानव इतिहास निरन्तर अकुशल से कुशल की ओर बढ़ता जा रहा है। समाज के स्वरूप में परिवर्तन प्रगति के कारण होता है।¹ इस परिवर्तन के साथ सामाजिक अवस्था में विकास होता रहता है। इस विकास की प्रक्रिया के साथ सामाजिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होना निश्चित है।² इतिहासकार इन्हीं सामाजिक आवश्यकताओं के परिवेश में इतिहास लिखता है।³ इस प्रकार सामाजिक आवश्यकता इतिहासकार की इतिहास—सम्बन्धी अवधारणा को प्रभावित करती है, यही अवधारणा इतिहास—बोध है।

इति—ह—आस तीन पृथक शब्दों का रूप है। इतिहास का अर्थ होता है, निश्चित रूप से ऐसा हुआ। अतीत को पूर्ण विश्वास के साथ प्रमाणित करने की प्रक्रिया को इतिहास की श्रेणी में रखा जाता है। यदि इतिहास का तात्पर्य खोज अथवा अनुसंधान से है तो इसका यह भी अर्थ होता है कि प्रत्येक युग में इतिहासकार सामाजिक आवश्यकता के अनुसार ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करता रहा है तथा सामाजिक रुचि के अनुसार इतिहास का प्रस्तुतीकरण करता है।⁴ क्रोचे ने सभी इतिहास को समसामयिक कहा है।⁵ उसका तात्पर्य यह है कि इतिहासकार अपने युग में दृष्टिकोण तथा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से अतीत की घटनाओं को देखता है। प्रत्येक युग में इतिहास बोध की अवधारणा का स्वरूप उद्देश्यपरक रहा है।⁶ अंत में हम कह सकते हैं कि निरन्तर परिवर्तित समाज की आवश्यकता के अनुरूप इतिहास अवधारणा में परिवर्तन होता रहा है। प्राचीनकाल में बीसवीं सदी तक परिवर्तन ही इतिहास बोध की अवधारणा का स्वरूप है।

कुछ पाश्चात्य इतिहास दार्शनिकों का विचार है कि भारतवासियों में स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था, घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में उन्हें तिथिक्रम का ज्ञान नहीं था। तथ्यों को कल्पित एवं पौराणिक कथाओं के परिवेश में रखने की प्रवृत्ति ने इस मान्यता को आधार प्रदान किया है। इन्हीं विद्वानों की यह अवधारणा है कि भारतीय घटनाओं के तथ्यपरक विवरण में रुचि नहीं रखते थे। पाश्चात्य विद्वान लोएस डिकिंसन ने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दू इतिहासकार नहीं थे। उनके अनुसार—भारत में मनुष्य प्रकृति के समक्ष अपने को तुच्छ और असमर्थ पाता है, परिणामस्वरूप उसमें नगण्यता तथा जीवन की निस्सारता जन्म लेती है, उसे जीवन की अनुभूति एक भयानक दुःस्वप्न के रूप में होती है। दुःस्वप्न का इतिहास बोध नहीं होता है। भारतीय अवधारणा के संबंध में लोएस डिकिंसन का यह तर्क है।⁷ डॉ. हीरानंद शास्त्री ने भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्राचीन भारतीयों ने इतिहास के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे अतीत तथा वर्तमान भौतिक जीवन की अपेक्षा आगामी जीवन में विशेष रुचि रखते थे।

*प्राध्यापक (इतिहास) के.आर.जी. शास. स्वशासी महाविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)

डॉ. गोविंदचन्द्र पाण्डे ने डिकिंसन के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि—उनका विचार हास्यास्पद प्रतीत होता है। भारतीयों ने वर्तमान जीवन को कभी भी नगण्य नहीं माना है। यदि इतिहास कर्म—प्रधान रहा है तो भारतवर्ष सदैव महापुरुषों की कर्मभूमि रहा है।^१

सम्पूर्ण विश्व में भारतवर्ष जैसा कोई भी देश नहीं है जिसने इतने बड़े सुदूर अतीत को सुरक्षित रखा है। अतीत का स्वरूप दो प्रकार का होता है— (1) मृत अतीत—जैसे घटनाएँ तथा व्यक्ति (2) जीवंत अतीत—इसमें परम्पराओं का संप्रेषण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है। निश्चित रूप से परम्परा के प्रति चेतना तथा उत्तरदायित्व की भावना भारतीयों में विशेष रूप से विद्यमान थी। इसी भावना के कारण प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन समय—समय पर होता रहा है। यही नहीं बल्कि भारतीयों ने इतिहास की पुस्तकों को सदैव नूतन तथा बुद्धिगम्य बनाने का प्रयास भी किया है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से वर्तमान तक भारतीयों में इतिहास की अवधारणा रही है। परिणामस्वरूप समय तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप भारतीय इतिहासकारों ने ऐतिहासिक ग्रंथों का सम्पादन किया है। इतिहास की अवधारणा के प्रति विशेष चेतना (बोध) का प्रमाण है।

भारतीय अवधारणा के अनुसार इतिहास बोध एक निरंतर चलायमान युग—चक्र है। मानव—जीवन, उसका सुख—दुःख इसी चक्र द्वारा नियंत्रित होता है। प्रत्येक चक्र चार युग में विभक्त है। ब्रह्म द्वारा युग—चक्र की सृष्टि होती है।

1. सत्य युग—भारतीय अवधारणा के अनुसार कृत मानव जीवन का स्वर्ण युग है। सुख सम्बन्धी सभी साधनों तथा उपकरणों से युक्त है।

2. त्रेता युग—यह युग—चक्र का द्वितीय चरण है। कृत की अपेक्षा मानवीय गुणों तथा सुखमय जीवन के साधनों तथा उपकरणों में अभाव का आभास होने लगता है।

3. द्वापर युग—युग—चक्र का यह तृतीय चरण है। इस युग में मानवीय दुःख का प्रारम्भ होता है। इसे संघर्ष का युग भी मानते हैं। रोग—व्याधि से मनुष्य पीड़ित होने लगता है। समाज में बाह्य संस्कारों का महत्व बढ़ जाता है। समाज की निरंतर बिगड़ती स्थिति को नियंत्रित करने के लिए सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। युग—चक्र का यह संस्कार तथा नियम—प्रधान युग माना जाता है।

4. कलियुग—युग—चक्र का यह अंतिम भाग है। मानवीय जीवन दुःख तथा निराशा की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। दुःख तथा अन्याय के परिवेश में मनुष्य धर्म की उपेक्षा करने लगता है। धर्म की उपेक्षा मानव—जीवन के दुःख का मूल कारण है। समाज में पारस्परिक संघर्ष अबौर स्वार्थ के वातावरण में सम्पूर्ण मानव—समाज का जीवन अत्यधिक दुःखमय हो जाता है। अंत में मानव—जगत का सर्वनो तथा युग—चक्र विनष्ट होकर परमब्रह्म में विलीन हो जाता है।

यह युग—चक्र निरंतर चलता रहता है। धर्म की उपेक्षा तथा मानव—जीवन का कष्ट जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो मानव जाति के उद्धार के लिए ईश्वर का अवतार होता है। अवतारवाद भारतीय इतिहास की अवधारणा है। भगवान कृष्ण तथा राम का जन्म इस अवधारणा की पुष्टि करता है।

इतिहास बोध निर्माण के संबंध में कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इतिहास का स्पष्ट नहीं होता है। प्रत्येक युग तथा समाज में इतिहास का निर्माण कुछ ही लोगों द्वारा होता है। ऐतिहासिक शब्दावली में उन्हें महानशक्ति अथवा जननायक की संज्ञा दी जाती है। जननायक कौन हो सकता है, जो समाज का नेतृत्व कर सके तथा सम्पूर्ण मानव जाति का पथप्रदर्शन कर सके, उसे ही जननायक की संज्ञा दी जा सकती है। प्राचीन काल से आधुनिक युग तक जननायकों ने समाज का नेतृत्व करके इतिहास का निर्माण किया है। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, तुलसीदास, महात्मा गांधी आदि इतिहास के श्रेष्ठ माने जाते हैं।

भारतीय इतिहास बोध की अवधारणा में यदि अवतारवाद के सिद्धांत से धार्मिकता को हटा दिया जाय तो विभिन्न अवतारों को महान व्यक्तियों के रूप में समझा जा सकता है। इन जननायकों ने विभिन्न युगों में जन्म लेकर समाज के असामाजिक तथा अवांछनीय तत्वों का अंत करके, एक नवीन रूप प्रदान किया है। यदि इतिहास का स्वरूप उद्देश्यपरक है तो निश्चित रूप से अवतारवाद के पीछे एक सामाजिक परियोजना रही है।

तुलसीदास ने भी राम के अवतार को सामाजिक आवश्यकता तथा अनिवार्यता के रूप में देखा है। भगवान राम का जन्म सामाजिक तथा युगचक्रीय परियोजना के अन्तर्गत हुआ है।⁹

इस अवधारणा के अनुसार मानव-इतिहास में जब कभी नैतिक अथवा सामाजिक अव्यवस्था के परिणामस्वरूप मानव-जाति के दुःखों में वृद्धि हुई है तब साधुओं की रक्षा तथा दुष्टजनों के विनाश के लिए जननायक के रूप में ईश्वर का अवतार हुआ है। इस अवतार का सामाजिक उद्देश्य अव्यवस्था को समाप्त करना तथा धर्म की पुर्नस्थापना रहा है। अवतारवादी जननायक समसामयिक सामाजिक अपेक्षाओं को ठीक पहचानते हैं उसके अनुसार कार्य करते हुए इतिहास-बोध को विशिष्ट आयाम प्रदान करते हैं। इस प्रकार महान व्यक्ति के रूप में वे इतिहास के स्रष्टा होते हैं। इतिहास-प्रक्रिया इन महान जननायकों की इच्छा एवं कार्यव्यापारों पर नहीं, अपितु स्वयं एक विकासशील धारा है जिनमें इन महापुरुषों का कार्य भूमिका मात्र रहा है।

अवतार का निश्चित ऐतिहासिक प्रयोजन होता है। अवतारी महापुरुष समसामयिक सामाजिक व्यवस्था से स्वतंत्र नहीं होते। यह परम सत्ता काल के द्वारा नियंत्रित होती है। किसी विशेष युग में अवतार का निर्धारण सामाजिक आवश्यकता तथा अनिवार्यता की पूर्ति होता है।

अवतारवाद के इस सिद्धांत ने भारतीयों के मस्तिष्क में एक भाग्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया है। विपत्ति के समय अकर्मण्य होकर ईश्वर के अवतार द्वारा विपत्ति निवारण की आशा इस प्रवृत्ति की देन है। अवतारवाद में एक निहितार्थ छिपा हुआ है। अवतार वांछनीय सामाजिक तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है, साथ ही यह एक विरोधी तत्व की पूर्वापेक्षा भी

रखता है। इस विरोधी तत्व को दुष्टता का प्रतीक माना जाता है। इन दोनों विरोधी तत्वों का संघर्ष शाश्वतकाल से चला आ रहा है इतिहास बोध में इस प्रकार का संघर्ष पूर्वापेक्षित है। इसके अभाव में इतिहास के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि प्राणिमात्र के कार्य इसी संघर्ष में निहित होते हैं। ऐतिहासिक वस्तु-सामग्री के रूप में परिवर्तन का आधार संघर्ष ही होता है।

भारतीय इतिहास बोध की अवधारणा में कर्म को प्रधानता दी गयी है। कर्म-सिद्धांत का अर्थ यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वर्तमान में फल प्राप्त करता है। प्रत्येक कर्म के पीछे एक शक्ति होती है जो भविष्य में स्वानुरूप फल की प्राप्ति कराती है। कर्म-फल का यह सिद्धांत इतिहास में कारण-कार्य के संबंध की पुष्टि करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों को कारण-कार्य-संबंध का ज्ञान इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था से ही है।

ऐतिहासिक योजना का एकमात्र उद्देश्य जीवन, मृत्यु अथवा संसार से मुक्ति प्राप्त करना है। इतिहास इस उद्देश्य की प्राप्ति में सतत क्रियाशील है और विश्वास है अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति में सदैव अग्रसर रहेगा। मोक्ष प्राप्ति इसका अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति में सदैव अग्रसर रहेगा। मोक्ष प्राप्ति इसका अंतिम उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के पश्चात् मानव इतिहास का अंत हो जाता है।

भारतीय अवधारणा के अनुसार इतिहास का सिद्धांत व्यक्तिवादी है। सम्पूर्ण समाज के मोक्ष की परिकल्पना भारतीय विचारधारा के विपरीत है। बौद्ध, जैन तथा सिखधर्म में मोक्ष को प्रधान मानकर उसकी प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग मोक्ष प्राप्ति का साधन है।— (1) सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प (3) सम्यक् वाक् (4) सम्यक् कर्मात् (5) सम्यक् आजीव (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति (8) सम्यक् समाधि। कर्म को ही मानव-इतिहास का कारक माना गया है।

बौद्ध धर्म के अनुसार सन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम में कार्य के द्वारा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। न केवल गौतम बुद्ध, बल्कि भक्ति आंदोलन के समाज सुधारक संतों ने ज्ञान-मार्ग को अस्वीकार करके कर्म तथा भक्ति को मोक्ष का साधन स्वीकार किया है। मोक्ष से मानव-इतिहास का अंत होता है। कर्म का सिद्धांत किसी भी रूप में कर्तव्य भावना से पलायन का सिद्धांत नहीं है। कर्म के आधार पर मनुष्य पूर्वांकित इतिहास की रेखाओं को परिवर्तित करने में भी समर्थ है। संकल्प-शक्ति से मनुष्य युग प्राणी है और कर्म रूप में अनुदित करने की क्षमता रखता है। वह इतिहास को एक निश्चित दिशा प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। कर्म-सिद्धांत की भाग्यवादी व्याख्या बड़ी स्वाभाविक है। केवल साधारण अशिक्षित जनता में ही नहीं, अपितु बुद्धिवादियों तथा आजीवक सम्प्रदाय में सर्वथा अज्ञात नहीं रहा है।

इतिहास बोध की भारतीय अवधारणा की विवेचना के उपरान्त हम कह सकते

हैं कि इतिहास एकाएक घटित घटनाओं का वृत्तान्त मात्र नहीं है उसमें निरन्तरता, मूल्यों और वस्तुनिष्ठता का भाव होता है।

सन्दर्भ

1. राहुल सांकृत्यान, अतीत से वर्तमान, वाराणसी 1956, पृ. 186।
2. जेम्स शाटवेल, हिस्ट्री ऑफ हिस्ट्री, न्यूयार्क, 1956 पृ. 4।
3. वही।
4. जी.जे., रेनियर, हिस्ट्री, इट्स परपॅस एण्ड मैथड, लन्दन, 1961 पृ. 30
5. उद्धृत आर.जी., कॉलिंगवुड, आईडिया ऑफ हिस्ट्री, 1961, पृ. 10।
6. वही
7. चार्ल्स फर्थक, एनशियन्ट हिस्ट्रोरीयन्स ऑफ इण्डिया, बाम्बे 1966, पृ. 34।
8. गोविन्दचंद्र पांडे, इतिहास स्वरूप एवं सिद्धांत, जयपुर, 1973, पृ.1।
9. सिद्धनाथ वाजपेयी, तुलसी रामायण की व्याख्या एवं टीप, दिल्ली, 2004, पृ. 131

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण डॉ० कुमार विमल लखटकिया*

लोक उद्योगों से आशय ऐसे उद्योगों अथवा सेवाओं से है जिनका स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण केन्द्र राज्य अथवा स्थानीय सरकार अथवा सार्वजनिक संस्था द्वारा किया जाता है।

निजी उद्योगों से आशय – “ उन औद्योगिको व्यापारिक या वित्तीय इकाइयों से है जो किसी देश में निजी व्यक्तियों या गैर सरकारी संस्थाओं के स्वामित्व, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध में सरकार के सामान्य नियमों के अनुसार संचालित की जाती है।”¹ इन उद्योगों का स्वामित्व व प्रबन्ध निजी व्यक्तियों या गैर सरकारी संस्थाओं के हाथ में होता है, इन उद्योगों का संचालन सरकारी नियमों एवं कानूनों के अनुसार ही होता है। इन उद्योगों में उच्च प्रबन्धकों तथा संचालकों का वित्तीय हित रहता है।

लोक क्षेत्र और निजी क्षेत्र पर विचार विमर्श करते समय कभी-कभी यह सन्देह उठता है कि यह दोनों क्षेत्र एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उन क्षेत्रों के सह अस्तित्व और सहायकों के प्रति आशंका करने वाला यह दृष्टिकोण गलत है। पं० नेहरू ने लोक सभा में द्वितीय योजना आयोग की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा था। “मैं लोक क्षेत्र की वृद्धि का समर्थन करता हूँ लेकिन मैं निजी क्षेत्र के विरोध को नहीं समझ पाता और न ही किसी कीमत पर इस विरोध की प्रशंसा कर सकता हूँ। यद्यपि लोक क्षेत्र स्पष्ट रूप बढ़ेगा और अब भी यह निरपेक्ष या साक्षी दोनों दृष्टिकोणों से बढ़ चुका है लेकिन निजी क्षेत्र का महत्व कम नहीं है इसको भी देश के साधनों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए।”

इस प्रकार दोनों क्षेत्रों का अपना—2 महत्व एवं उपयोगितायें हैं जहाँ निजी क्षेत्र के होने से व्यक्तिगत रुचि, प्रारम्भिकता और परस्पर प्रतियोगिता के लाभ समाज को प्राप्त होते हैं वहाँ लोक क्षेत्र होने के कारण सरकार मुद्रा की स्थिरता, मूल्य नियन्त्रण, आर्थिक संरचना का निर्माण पिछड़े क्षेत्रों का विकास और तकनीकी एवं प्रबन्ध सम्बन्धी कुशलता में वृद्धि करके आर्थिक विकास की गति को तीव्र करती है। वास्तव में लोक क्षेत्र और निजी क्षेत्र, किसी राष्ट्र के दो सुन्दर पहिये हैं और इन पहियों में समानता, सुदृढ़ता तथा समन्वयता पर ही आर्थिक विकास की गति निर्भर करती है।² इसीलिए भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व श्री लाल बहादुर शास्त्री ने 2 नवम्बर, 1964 को इण्डियन मर्चेन्ट चैम्बर द्वारा आयोजित स्वागत समाज में बोलते हुए कहा था— “निजी क्षेत्र तथा लोक क्षेत्र का विवाद आवश्यक है, 1978 में तत्कालीन वित्तमंत्री श्री एच०एम० पटेल ने भी गद्दास में एक सेमीनार में बोलते हुए कहा था कि “लोक क्षेत्र का विस्तार कभी भी निजी क्षेत्र की कमी के आधार पर नहीं होगा हमारी अर्थव्यवस्था की

*सहा० प्राध्यापक, वाणिज्य, राज० महा विद्यालय बाजपुर, ऊधमसिंह नगर

आवश्यकतायें इनती अधिक हैं और अभी इतना कुछ करना है कि दोनों क्षेत्रों के विस्तार के लिए प्रयाप्त सम्भावनायें हैं।” उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि अब सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र का प्रश्न नहीं वरन् प्रश्न यह है कि देश में समस्याओं के सन्दर्भ में दोनों क्षेत्र अपनी पूरक भूमिका किस प्रकार निभाएँ।”

वास्तविकता यह है कि लोक क्षेत्र में एकाधिकारी वी अर्थव्यवस्था भी उतनी ही दोषपूर्ण सिद्ध होती है जितनी की निजी क्षेत्र के एकाधिकारी वाली अर्थव्यवस्था। व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा ऐसी ही अर्थव्यवस्था अधिक उपयोगी सिद्ध होगी जो निजी क्षेत्र और लोक क्षेत्र दोनों के सहयोग तथा समन्वय पर आधारित हो प्रो० आर्थर एम० शिलिंग्सजर जूनियर ने सन् 1962 में उस्मानिया विश्वविद में आयोजित एक सेमीनार में बोलते हुए कहा था, “लोक क्षेत्र के प्रभुत्व वाला समाज लोचहीनताश नौकरशाही तथा अत्यचार से पीडित रहेगा, दोनों की एक शिक्षित समाज में मिलाने के लिए समाजिक आविष्कार करने की शक्ति तथा राजनीतिक चातुर्थ की आवश्यकता है।” यदि सार्वजनिक क्षेत्र की ऐसी इकाइयों जिनमें भ्रष्टाचार व्याप्त है और समस्याओं से ग्रस्त हैं निजीकरण कर दिया जाये तो निम्नलिखित लाभ प्राप्त हो सकते हैं:-³

1. समूचित प्रबन्धकीय व्यवस्था।
2. निजी प्रबन्ध के लाभ की वृद्धि का सतत् एवं जागरूक प्रयत्न।
3. मशीनरी की उचित देखभाल व सतत् कार्यरत रख-रखाव।
4. उन्नत प्रविधियों का प्रयोग एवं नवीन आविष्कारों में वृद्धि।
5. कर्मचारियों में कर्तव्य निष्ठा, परिश्रम, लगन एवं पदोन्नति के लिए प्रतिस्पर्धा प्रयत्न।
6. कर्मचारियों में अभिप्रेरणा एवं भ्रम कानूनों के पालन से शोषण की संभावना न
7. कुशल कर्मचारियों की भर्ती।
8. वितरण व संचार।

इस प्रकार उपभोक्ताओं के आधार पर यदि यह कहा जाये कि सार्वजनिक क्षेत्र के सभी उद्योगों का निजी करण कर दिया जाये तो यह कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि निजी क्षेत्र में केवल उन्हीं उद्योगों को अपनाया जाता है जिनमे लाभ की संभावना अधिक होती है। सामाजिक कल्याण के अधिक पूँजी वाले उद्योग निजी क्षेत्र में नहीं लगाये जा सकते क्योंकि न तो निजी उद्योग पत्तियों के पास इतने साधन हैं और न ही उनमें अधिक लाभ की संभावना होती है।⁴ अतः आज आवश्यक इस बात की है कि एक और पूँजीपति वग अपने आपको

नवीन परिस्थितियों, नवीन दशाओं तथा नवीन वातावरण के अनुकूल बनायें क्योंकि आज का युग नियन्त्रित पूँजीवादी और आर्थिक नियोजन का युग है दूसरी और सरकार केवल सैद्धान्तिक या राजनैतिक आधार पर ही निजी क्षेत्र का विरोध या सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार न करें, वरन् प्रतिशील, प्रेरणादायक, व्यवहार राष्ट्रीय और लाभदायक नीतियाँ अपनायें ।

सन्दर्भ

1. औद्योगिक अर्थशास्त्र – डॉ. आर.एस. कुलश्रेष्ठ
2. आर्थिक चिन्तन का इतिहास – चतुर्वेदी एवं चतुर्वेदी
3. सेविवर्ग प्रबन्ध ऐव औद्योगिक सम्बन्ध— मामोरिया एवं मामोरिया
4. व्यावसायिक अर्थशास्त्र— सिन्हा एवं सिन्हा ।

ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में राजनैतिक चेतना

मोहर सिंह*

निसन्देह ग्वालियर संसदीय क्षेत्र सिंधिया शासित ग्वालियर राज्य के भारतीय गणराज्य के विलनीकरण के बाद आस्तित्व में आया, परन्तु वर्तमान ग्वालियर संसदीय क्षेत्र का अधिकांश भौगोलिक क्षेत्र ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत तत्कालीन प्रान्त की सीमाओं को स्पर्श करता था। अतः स्वतंत्रता आन्दोलन काल में इस क्षेत्र में राजनैतिक चेतना सामंतशाही और जनसाधारण के मध्य असन्तोष के बंद के राज्य में दिखलाई पड़ती है। सिंधिया कालीन ग्वालियर राज्य में सामंतशाही इतनी अधिक शाशक्त थी कि किसान, मजदूर आदि जनसाधारण अपने असन्तोष की अभिव्यक्ति भी नहीं कर सकते थे। यह क्रम सामान्यतः आपातकाल तक रहा। तथा आपातकाल के बाद जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण स्वाधीनता के लिए क्रांति ने ग्वालियर की राजनैतिक चेतना को प्रभावित किया।

सन् 1947 ई. में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होने के उपरान्त भारतीय गणराज्य के समक्ष बड़ी रियासतों के विलनीकरण का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण था। जिसमें ग्वालियर राज्य भी था।

तत्कालीन सिंधिया शासक जीवजीराव सिंधिया ग्वालियर राज्य को भारतीय गणराज्य में सम्पूर्ण शक्तियों के साथ विलय करने के पक्ष में नहीं थे। सरदार वल्लभ भाई पटेल के दृढ़ निश्चय और राष्ट्रीय विलीनीकरण की नीति के आगे जीवाजीराव सिंधिया को ग्वालियर का विलय भारतीय गणराज्य में करना पड़ा। कुछ राज्य राजनैतिक विश्लेषकों का मानना है कि ग्वालियर राज्य के विलीनीकरण में राजमाता विजयराजे सिंधिया की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इतना ही नहीं जीवाजी राव सिंधिया ने राज्य के विलीनीकरण के समय भारत सरकार को राजकोष से लगभग 54 करोड़ रुपये की राशि भारत सरकार को दी।

ग्वालियर राज्य के भारतीय गणराज्य में विलीनीकरण के साथ ही ग्वालियर क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप में सामन्तीय राजनीतिक पतनन्मुख हो गयी और जनतांत्रिक राजनैतिक चेतना का ग्वालियर में विकास हुआ। राज्य के विलनीकरण के बाद मध्य-भारत प्रांत का जन्म हुआ और तदान्तर में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र का निर्माण मध्य-प्रदेश राज्य के अन्तर्गत हुआ।

स्वतंत्रता के बाद भारत के प्रथम आम चुनावों (1952) में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की राजनैतिक चेतना देखने को मिलती है। यह चेतना राष्ट्रवादी हिन्दू संगठन के उदय के रूप में विकसित हुई। ये राष्ट्रवादी हिन्दू संगठन हिन्दू महासभा के नाम से तत्कालीन राजनीति में जाना जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दू महासभा की स्थापना हिन्दूओं के राजनैतिक सुरक्षा के लिए की गई थी। परन्तु ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में हिन्दू

*शोध छात्र (राजनीति शास्त्र) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

महासभा का उद्देश्य क्षेत्र में राजनैतिक चेतना को विकसित करना था। निसंदेह ग्वालियर संसदीय क्षेत्र से प्रथम चयनित सांसद नारायण भास्कर खरे हिन्दू महासभा के प्रत्याशी थे। और जिन्हें तत्कालीन ग्वालियर के सिंधिया राजवंश का समर्थन प्राप्त था। भारत के प्रथम आम चुनाव ग्वालियर संसदीय क्षेत्र की राजनैतिक चेतना की यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि हिन्दू महासभा पूरे देश में संसदीय शक्तियों का विरोध कर रही थी। वही ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में प्रजातांत्रिक मूल्यों की स्थापना में सिंधिया राजघराने का समर्थन प्राप्त था।

प्रथम आम चुनाव से लेकर 25 जून 1975 को भारत में आपातकाल की घोषणा कर ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में राजनैतिक गतिधिवियों का, राजनैतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने के बाद हम ये देखते हैं कि ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में हिन्दू महासभा तथा प. द्वारिका प्रसाद मिश्र एक राजनैतिक द्वंद उत्पन्न हुआ जिसकी परिणीती में मध्य भारत प्रांत में प्रथम गैर कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ। सन् 1966 ई. में माधवराव सिंधिया सांकेतिक रूप से ग्वालियर राज्य के प्रमुख घोषित हुये। सन् 1967 ई. के आम चुनाव में भारतीय जनसंघ की बढ़ती हुई राजनैतिक शक्ति से प्रभावित होकर माधवराव सिंधिया ने भारतीय जनसंघ की सदस्यता प्राप्त की और 1971 में गुना संसदीय क्षेत्र से भारतीय जनसंघ के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुये। लेकिन अधिक समय तक माधवराव सिंधिया भारतीय जनसंघ जो कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की राजनीति विंग था से सामन्तस्य स्थापित नहीं कर सके और आपातकाल के बाद 1977 में गुना से इंदिरा समर्थित कांग्रेस निर्दलीय के रूप में विजयी हुये। सन् 1975 में आपातकाल घोषित होने के उपरान्त ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में एक नवीन राजनैतिक चेतना का उदय हुआ। जिसे स्थानीय राजनैतिक विश्लेषक दमन एवं प्रतिशोध पर आधारित राजनैतिक चेतना मानते हैं जिस प्रकार 25 जून 1975 को अर्द्धरात्रि में आपातकाल की घोषणा और उसके बाद भारतीय जनसंघ, हिन्दू महासभा एवं भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के साथ साथ राष्ट्र स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं को बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया तथा उन्हें जेल में विभिन्न प्रकार की यातनायें दी गई। इस प्रकार के राजनैतिक द्वेष का ग्वालियर संसदीय क्षेत्र पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। और यहा से कांग्रेस विरोधी विचारधाराओं के सभी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। दन गिरफ्तारियों ने ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में कांग्रेस विरोधी नकारात्मक चेतना को जन्म दिया।

भारत में आपातकाल अवधि में तात्कालीन प्रधानमंत्री के पुत्र संजय गांधी के पाँच सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्वालियर की जनता पर प्रशासनिक प्रहार हुये। इन पाँच सूत्रीय कार्यक्रमों में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में परिवार नियोजन सूत्र के अन्तर्गत अनेकों अविवाहित युवाओं की नसबंदी करायी गयी। जिससे प्रतिशोधात्मक राजनैतिक चेतना को जन्म दिया।

ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में महात्मा गांधी के युग से लेकर आपात काल तक की राजनैतिक चेतना का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि ग्वालियर संसदीय क्षेत्र जहां प्रारम्भिक काल में राष्ट्रीय चेतना और सामन्तवादी राजनैतिक व्यवस्था के मध्य राजनैतिक द्वंद में संलग्न रहा। स्वतंत्रता के बाद प्रजातांत्रिक मूल्यों की व्यवस्थाओं के

मध्य एक विशिष्ट राजनैतिक चेतना देखने को मिलती है। विशेषकर आपातकाल में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में राजनैतिक द्वेष आधारित दमनात्मक एवं प्रतिशोधात्मक राजनैतिक चेतना विकसित हुई।

5 जून 1974 ई. को पटना में गांधी मैदान की विराट जनसभा में जय प्रकाश नारायण ने एक ऐतिहासिक भाषण दिया। जय प्रकाश नारायण ने इस भाषण के माध्यम से भारतीय राजनीति में सम्पूर्ण क्रांति की रूप रेखा रखी।¹

जय प्रकाश नारायण ने देश के लिए सम्पूर्ण क्रान्ति को आवश्यक बतलाते हुये आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, वैचारिक एवं नैतिक बिन्दुओं को सम्पूर्ण क्रांति के उद्देश्यों के तहत निश्चित किया। जय प्रकाश नारायण आर्थिक क्रान्ति के अन्तर्गत यांत्रिक क्रांति, औद्योगिक क्रांति एवं कृषि क्रांति को सम्मिलित किया। जय प्रकाश नारायण ने तात्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को समाजवाद की अवधारणा को सरकारवाद अथवा राजवाद की संज्ञा दी।

आर्थिक क्रान्ति संदर्भ में जय प्रकाश नारायण ने कहा आज जिस सम्पूर्ण क्रान्ति की बात कर रहा हूँ उसमें वह क्रान्ति भी निहित है जिसके गर्भ से वास्तविक समता एक मानवीय स्वतंत्रता पर आधारित समाजवाद जन्म लेगा।

जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक क्रान्ति था। सामाजिक क्रान्ति में माध्यम से जय प्रकाश नारायण ने न केवल छुआछूत और प्रर्दा प्रथा जैसी अंध समानों को समाज से निकालने पर बल दिया, परन्तु समाज में उन समस्त बुराईयों को मिटाने पर बल दिया जिससे सम्पूर्ण समाज की रचना आर्थिक एवं सामाजिक समभाव पर आधारित हो। जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति में राजनैतिक क्रान्ति के अन्तर्गत लोकतांत्रिक मूल्यों की पूर्ण स्थापना सबसे महत्वपूर्ण थी।

जय प्रकाश नारायण ने सामान्तर रूप से शैक्षणिक एवं वैचारिक क्रान्ति को बल दिया उन्होंने वर्तमान शिक्षा को गुलामी की शिक्षा कहते हुये एक ऐसे शैक्षणिक ठाँचे की बात कही जो शिक्षा के लिए बनी हो और लोकतंत्र के लिए लाभप्रद हो। जय प्रकाश का मानना था कि किसी भी क्रान्ति को गति प्रदान करने में सबसे अधिक योगदान विचारों का होता है। जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं कि सम्पूर्ण क्रान्ति की मेरी कल्पना किसी बने बनाये ठाँचे में नहीं समा सकती है। वादों सिद्धान्तों से ऊपर उठना भी अपने आप में वैचारिक क्रान्ति है। किसी एक सिद्धान्त के पास सारी समस्याओं का हल नहीं हो सकता।

राजनैतिक क्रान्ति की सोच के पीछे जय प्रकाश नारायण के विचारों में महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है, जैसा कि महात्मा गांधी कहा करते थे कि लोकतंत्र का केवल यह अर्थ नहीं कि जनता के मत से शासन स्थापित हो बल्कि जनता में ऐसी क्षमता हो कि वे शासकों को उनके पद से भी हटा सकें।

जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति ने ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में एक नवीन वैचारिक राजनैतिक चेतना को उत्पन्न किया जिसके परिणाम स्वरूप ग्वालियर में अनेकों गैर कांग्रेसी छात्र संगठन एवं मजदूर संघ ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में सक्रिय हुए। यह जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार था कि ग्वालियर से योगेन्द्र मिश्रा नाम का युवक मध्य प्रदेश अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद का प्रदेशाध्यक्ष निर्वाचित हुआ। योगेन्द्र मिश्रा यद्यपि भारतीय जनसंघ की छात्र इकाई से संबंधित राष्ट्र स्वंय सेवक संघ के कार्य कर्ता थे परन्तु वे जय प्रकाश नारायण के विचारों के समर्थक थे। जय प्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार से ग्वालियर-चंबल संभाग में अनेक युवा नेताओं को जन्म दिया। जिसमें राम लखन सिंह, नरेन्द्र सिंह तोमर, गोविन्द सिंह, रघु ठाकुर आदि हुये।

आपातकाल भारतीय राजनीति में एक ऐसा निर्णायक मोड़ था जिसने भारतीय राजनैतिक चेतना को विकसित किया। आपातकाल के दुष् परिणामों की परिणीती के रूप में जय प्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार से उत्पन्न एक विचारधारा का उदय हुआ। इस विचारधारा ने भारतीय राजनैतिक परिदृश्य को न केवल प्रभावित किया वरन् घोर विरोधी राजनैतिक विचार धाराओं में समन्वय स्थापित करने के लिए एक नवीन राजनैतिक चेतना को विकसित किया। आपातकाल से पूर्व भारत में राजनीतिक वैचारिकता के आधार पर निर्धारित होती थी। भारतीय जनसंघ जो कि राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त पर आधारित थी। भारतीय लोकदल लोहिया के समाजवाद के दर्शन पर आधारित राजनैतिक पार्टी थी। मार्क्सवादी पार्टी एवं भारतीय मार्क्सवादी पार्टी दोनों वामपंथी सिद्धान्तों पर आधारित थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जो कालान्तर में इंदिरा कांग्रेस के नाम से जानी गयी। महात्मा गांधी के विरोध के बावजूद भारतीय राजनीति में सक्रिय थी। दन समस्त विविध वैचारिक दृष्टिकोण रखने वाली पार्टियां आपात काल के बाद समन्वयात्मक शैली के अन्तर्गत गैर कांग्रेस के नाम पर न केवल एकत्रित हुई बल्कि जनता पार्टी के रूप में एक पार्टी में विलीन हो गयी।

आपात काल की समाप्ति की घोषणा के साथ भारतीय राजनीति में लोकतंत्र की पुर्नस्थापना का समय था। कि जब भारतीय राजनेताओं एवं जन साधारण दोनों का राजनीतिक उत्तरदायित्व बढ़ गया। चुनाव की घोषणा के बाद लोकनायक जय प्रकाश नारायण के निर्देशन में गैर कांग्रेसवाद के नाम पर विभिन्न राजनैतिक पार्टियों को मिलाकर जनता पार्टी का गठन किया गया, जनता पार्टी के गठन को उद्देश्य आपातकाल में विकृत हुई राजनैतिक चेतना को दिशा देकर प्रजातांत्रिक मूल्यों की पुर्नस्थापना करना था। आपातकाल के समय ग्वालियर संसदीय क्षेत्र प्रमुख रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंदिरा कांग्रेस) तथा भारतीय जनसंघ के बीच विभक्त थी। यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि ग्वालियर की राजनीतिक स्थिति में हिन्दू महासभा के पतन उन्मुख होने के बाद भारतीय जनसंघ का वर्चस्व रहा। 1971 से 1977 तक पंचम लोक सभा में भारतीय संसद में अटल बिहारी वाजपेयी भारतीय जनसंघ के सांसद रहे। यही कारण था कि ग्वालियर संसदीय क्षेत्र

में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी राजनैतिक चेतना बलवती रही तथा आपात काल के बाद हुए शष्ठ लोक सभा चुनावों में भी कांग्रेस के विरुद्ध नारायण कृष्ण राव शेजवलकर जनता पार्टी के प्रत्याशी के रूप में सांसद निर्वाचित हुये।

1977 से 1980 का काल भारतीय राजनीति में वैसे तो गठबंधन राजनीति का प्रारंभ माना जाता है, परन्तु यह काल भारतीय राजनीति में गठबंधन की राजनीति की तुलना में "दलबदल राजनीति के लिए ज्यादा जाना जाता है।" इसका एक मात्र कारण विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का एक सरकार में सम्मिलित होना और नेतृत्व की अस्वीकारता था। आपात काल के बाद जनता पार्टी के गठन में असंतुष्ट कांग्रेसी नेताओं की बड़ी भूमिका थी। जिन्होंने इंदिरा गांधी के नेतृत्व को स्वीकार नहीं कर सके थे अथवा उनको इंदिरा गांधी ने पार्टी से निकाल दिया था। इन नेताओं में नीलम संजीव रेड्डी, मोरारजी देसाई, जगजीवन राम आदि प्रमुख थे। भारतीय जनसंघ एवं भारतीय लोकदल दो तात्कालीन सबसे बड़े दल थे। जिनका जनता पार्टी में विलय हुआ था।

भारतीय जनसंघ में अटल बिहारी वाजपेयी, लाल कृष्ण आडवाणी, सिकन्दर बक्खत, मुरली मनोहर जोशी आदि प्रमुख थे। जबकि भारतीय लोकदल में चौधरी चरण सिंह सबसे महत्वकांक्षी नेता थे। उनके साथ प्रफुल्ल ठाकुर तथा राजनारायण जैसे समाजवादी भी थे। इन दो बड़े दलों के अतिरिक्त वामपंथी दल भी सरकार में सम्मिलित थे। जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष का दायित्व तत्कालीन भारतीय राजनीतिक युवा तुर्क चन्द्रशेखर सिंह पर था।

इस समस्त राजनीतिक विलय एवं गठबंधन की राजनीति ने दलगत राजनीति के समूह को जिस प्रकार प्रभावित किया उसका प्रत्यक्ष प्रभाव ग्वालियर संसदीय क्षेत्र पर भी पड़ा। और परिणामतः 1977 के आम चुनाव में जनता पार्टी के प्रत्याशी के रूप में नारायण कृष्णराव शेजवलकर सांसद चुने गये। ग्वालियर में चूंकि भारतीय जनसंघ राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ स्थिति में था। अतः ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में इस क्षेत्र से जनता पार्टी ने भारतीय जनसंघ को सबसे अधिक महत्व दिया गया। जिसके कारण ग्वालियर संसदीय क्षेत्र भी राजनैतिक चेतना के रूप में राष्ट्रीय सांस्कृतिवाद का विकास हुआ।

सन् 1977 ई. के बाद जिस तीव्रता के साथ जनता पार्टी की स्थापना हुई और उसे सफलता भी प्राप्त हुई ठीक उसी प्रकार सन् 1977 से लेकर 1980 के मध्य क्रमशः मोरारजी देसाई, चौधरी चरण सिंह तथा चन्द्रशेखर सिंह नेतृत्व वाली तीन सरकारों का तीव्रता के साथ पतन हुआ और अंततः पुनः गठबंधन को तोड़कर अलग अलग पार्टियों का निर्माण हुआ। जनता पार्टी सिर्फ नाम की पार्टी रह गयी और इससे अलग हुये दलों ने चौधरी चरण सिंह, देवी लाल, करपुरी ठाकुर, राम कृष्ण हेगड़े, मधुदण्डवते, जार्ज फर्नांडीज आदि ने लोक दल की स्थापना की। जबकि अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी की स्थापना की गयी। यह भी सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अष्टम दशक के अंत में चौधरी

चरण सिंह के नेतृत्व में स्थापित केन्द्रीय सरकार एक दिन भी भारतीय संसद में उपस्थित नहीं हो सकी।

इस दल बदल राजनीति का ग्वालियर संसदीय क्षेत्र की राजनीतिक चेतना पर भी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। तत्कालीन राजनैतिक हितों को दृष्टिगत रखते हुए कई स्थानीय नेताओं ने दलबदल किये और अन्ततः मध्य प्रदेश में बहुमत की राज्य सरकार खण्डित हो गई।

सन् 1980 में भारतीय जनता पार्टी की स्थापना के बाद एक बार फिर ग्वालियर की राजनैतिक चेतना पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के विचारों का प्रभाव पड़ने लगा। और 1980 में आम चुनाव में पुनः एक बार नारायण कृष्ण राव शेजवलकर भारतीय जनता पार्टी के प्रत्याशी के रूप में सांसद बने। जो 1984 तक भारतीय संसद में ग्वालियर का प्रतिनिधित्व करते रहे।

ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में माधवराव सिंधिया का राजनीति में प्रवेश एक ऐतिहासिक घटना माना जाता है। माधवराव सिंधिया की राजनैतिक जीवन यात्रा सन् 1971 ई. में गुना क्षेत्र से जनसंघ के सदस्य के रूप में लोकसभा का सदस्य बनने से हुई। वे पाँचवी लोकसभा से लेकर तेरहवीं लोकसभा तक नौ बार लगातार बिना पराजित हुए लोकसभा के सदस्य रहे। माधवराव सिंधिया राजनीति में सुचिता का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने सदैव मूल्यों और सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति को प्रश्रय दिया। सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने के लिए सतही राजनीति को उन्होंने कभी नहीं अपनाया। 'साध्य' के साथ साधनों की पवित्रता में उनका अटूट विश्वास था, जिसे वे जीवन में अंगीकार करते थे। शङ्क्यंत्रकारी राजनीति सिंधिया के स्वभाव में नहीं थी। शायद वे अंत तक नहीं जान कि राजनीति कबीर के सहज दोहों की तरह ही नहीं की जाती, उसमें उलटबाजियाँ भी होती हैं। होना तो यह चाहिए था कि वंशानुगत विरासत में मिले राजनीतिक पाठ को या महलों की राजनीति के दावपेंचों को वे लोकतांत्रिक राजनीति में भी लागू करते, लेकिन स्वर्ण मुकुट धरकर पैदा हुआ, यह माधव शायद किसी और मिट्टी का बना था।²

राजनीति में मध्य प्रदेश तथा देश में कांग्रेस की राजनीति में वे एक महत्वपूर्ण धुरी बनकर कांग्रेस को अपने योगदान से सिंचित करने एवं आवश्यकतानुसार उसकी रक्षा एवं उसे पोषित करने का उन्होंने प्रयास किया। माधवराव सिंधिया ने कांग्रेस को शक्तिशाली पार्टी बनाने के लिए अथक प्रयास किये। मध्यप्रदेश में कांग्रेस में गुटबाजी को समाप्त करने लिए उन्होंने भरसक प्रयास किया। कांग्रेस में एकता जगाने के लिए उन्होंने 1993 ई. में डबरा में एक सम्मेलन करवाया, जिसमें मध्य प्रदेश के सभी दिग्गज कांग्रेसी नेता शामिल हुए। डबरा सम्मेलन ने कांग्रेस की गुटबाजी समाप्त करने और एकता का पाठ पढ़ाने की एक अच्छी शुरुआत की। जिसका परिणाम 1993 ई. के मध्य प्रदेश विधान सभा चुनाव में कांग्रेस की जीत के रूप में सामने आया। 1996 ई. में हवाला काण्ड में नाम घसीटे जाने एवं कांग्रेस

द्वारा टिकिट न देने पर उन्होंने छोड़ दी और मध्य प्रदेश विकास कांग्रेस का गठन कर 1996 ई. के लोकसभा में भारी बहुमत से विजय प्राप्त की। उसके बाद कांग्रेस अध्यक्ष सीताराम केसरी उन्हें कांग्रेस में लाये।³

माधवराव सिंधिया अपनी काबिलियत एवं अपने दमखम पर राजनीति में आगे बढ़ते रहे। उन्होंने सदैव सीधी सपाट राजनीति को बढ़ावा देने का प्रयास किया। उनका कोई भी भारी भरकम खेमा नहीं था, दबाव और ब्लैकमेल जैसे शब्द उनके राजनीतिक शब्दकोष में नहीं थे। बहुत कम मौके आए जब सिंधिया ने कोई राजनीतिक अभियान छोड़ा हो। वे न किसी के बैरी थे और न उनसे किसी का बैर था। सामने वाले से उनकी राय जुदा हो सकती थी, सोच भिन्न हो सकती थी, प्रतिबद्धताएँ अलग हो सकती थी, किन्तु परस्पर शिष्टाचार, प्रेम प्रीति में वे सबके साथ समान थे। मूल्यहीन हो रही राजनीति का कु-चलन उन्हें कभी प्रभावित नहीं कर पाया। छल-कपट और उठापटक उनकी मंजिल के मील के पत्थर कभी नहीं बने। मानवीय पहलू को ध्यान में रखकर और उस पर चलकर ही उन्होंने अपनी मंजिल को हासिल किया।⁴

सन् 1999 ई. की एक ही लोक सभा में माधवराव सिंधिया ने ग्वालियर संसदीय सीमावर्ती सीट से लोक सभा में प्रतिनिधित्व किया। एक ही लोक सभा में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र से भारतीय जनता पार्टी के जयभान सिंह पवैया ने तेहरवी लोकसभा में ग्वालियर का प्रतिनिधित्व करते हुये ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में धर्म आधारित राजनीति का प्रारंभ किया। चूँकि जयभान सिंह पवैया बजरंग दल राष्ट्रीय अध्यक्ष थे और विश्व हिन्दू परिशद के अन्तराष्ट्रीय अध्यक्ष अशोक सिंघल के निकट के थे। और जयभान सिंह के राजनैतिक एजेण्डे में तात्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप अयोध्या में मंदिर निर्माण का बिन्दू सर्वोच्च प्राथमिकता में था। वैसे तो कारसेवा के प्रारंभ से ही ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में अयोध्या का मुद्दा राजनीति के शिखर पर था। और हजारों की संख्या में कारसेवकों ने राम मंदिर के लिए अयोध्या कूच किया था। ग्वालियर संसदीय क्षेत्र के अनेकों कारसेवक इस आन्दोलन में शामिल हुए।

इस प्रकार जयभान सिंह पवैया के सांसद बनने के साथ ही ग्वालियर में धर्म आधारित राजनैतिक चेतना का विकास हुआ। लेकिन यह राजनैतिक चेतना स्थाई न रही और 2004 ई. के आम चुनाव में ग्वालियर संसदीय क्षेत्र से रामसेवक सिंह सांसद निर्वाचित हुए। रामसेवक सिंह राजनैतिक कदाचार के कारण निलंबित होने के साथ 2007 में यशोधरा राजे सिंधिया सन् 2014 तक भारतीय जनता पार्टी के प्रतिनिधि रूप में भारतीय संसद में रही। यह काल ग्वालियर संसदीय इतिहास में एक सुप्त राजनैतिक चेतना का काल माना जा सकता है। जिसका प्रमुख कारण था कि केन्द्र में कांग्रेस की सरकार का होना था।

भारतीय राजनीतिक इतिहास में नवम् लोक सभा कई विशिष्टताओं के लिए जानी जाती है। इस लोक सभा का कार्यकाल लगभग तीन वर्ष था। परन्तु इन तीन वर्षों के काल में

इस लोक सभा में क्रमशः वी. पी. सिंह, एच. बी. देवगौड़ा, इन्द्रकुमार गुजराल तीन प्रधानमंत्री बने, संसदीय लोकतांत्रिक परम्पराओं में यह कोई बड़ी बात नहीं है कि इतने अल्प समय में तीन प्रधानमंत्री बने। इस लोक सभा में मण्डल आयोग की सिफारशें लागू होना एक ऐतिहासिक निर्णाय था। जिसके बाद भारतीय राजनीति में बड़ा बदलाव दिखलाई पड़ता है। साथ ही मण्डल आयोग की सिफारशों में लागू की गई आरक्षण व्यवस्थाओं के विरोध में सम्पूर्ण भारत में विरोध प्रदर्शन हुये जिसमें हजारों छात्रों की जाने गई। इस आरक्षण विरोधी आन्दोलन से ग्वालियर संसदीय क्षेत्र भी अछूता न रहा। यहा पर विभिन्न महाविद्यालयों के स्वर्ण छात्रों ने मण्डल सिफारशों का विरोध किया, बल्कि एक रक्तपात युक्त आन्दोलन देखने को मिलता है। इस आन्दोलन में महाराजा मानसिंह कालेज, पार्वतीबाई महाविद्यालय, माधव महाविद्यालय के साथ जीवाजी विश्वविद्यालय के छात्रों ने इस उग्र आन्दोलन में भाग लिया। जिसके परिणाम स्वरूप एक उग्र राजनैतिक चेतना का विकास हुआ।

ग्वालियर संसदीय क्षेत्र में राजनैतिक चेतना का समग्र विश्लेषण करने के बाद हम देखते हैं कि ग्वालियर संसदीय क्षेत्र बनने से लेकर शोध काल 2006 तक ग्वालियर क्षेत्र में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी राजनैतिक चेतना, आपातकालीन दमनात्मक व्यवस्थाओं के प्रति राजनैतिक चेतना, आरक्षण विरोधी उग्र राजनैतिक चेतना तथा धर्म आधारित राजनैतिक चेतना काल खण्डों में दिखलाई पड़ती है।

संदर्भ

1. मनोज कुमार सिंह एवं शैलेश कुमार चौधरी, भारतीय राजनैतिक चिन्तक — जय प्रकाश नारायण पृ. 22
2. डॉ आनंद कुमार शर्मा, माधवराव सिंधिया : व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृ.108
3. वही, पृ.109
4. वही, पृ.109

मुगलों के पूर्व भारत में उद्यान कला

यशोजीत सिंह परमार*

भारत की धार्मिक, सामाजिक संस्कृति अत्यंत विशिष्ट है। ऐतिहासिक काल के प्रारंभ से ही अग्नि, वायु तथा जल एवं वनस्पति को अराध्य माना गया है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों में भी जीवांश के पाँचों तत्वों की स्तुति तथा उसके लाभों का विवरण दिया गया है। प्रागैतिहासिक काल में जब मनुष्य मात्र भोजन संग्रह करता था तब भी वह वनस्पति के सानिध्य में ही अपने भोजन का संग्रह करता था। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास हुआ उसने प्रकृति एवं वनस्पति का दोहन किया, परन्तु यह भी सत्य है कि विकसित मनुष्य ने जहाँ प्रकृति एवं वनस्पति का उपयोग किया वहीं उसने इनके स्वरूप का भी सुन्दर निर्माण किया। भारत में प्राचीन काल में भी हमें घने वनों के साथ-साथ उपवनों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं।¹

महाकाव्य कालीन इतिहास में रामायण तथा महाभारत में उपवनों (उद्यानों) के विभिन्न सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस काल में ऋषि परम्परा के अन्तर्गत शिष्यों द्वारा उद्यानों को न केवल विकसित किया जाता था, बल्कि उनकी सम्पूर्ण देख-रेख का उत्तरदायित्व, ऋषि आधीन शिक्षारत विद्यार्थियों पर होता था। रामायण में उद्यानों के अनेकों विवरण मिलते हैं, परन्तु श्रीराम की सीता से प्रथम भेंट की पृष्ठ भूमि में तुलसीदास जी जिस मनोहर उपवन का विवरण देते हैं वह अतुलनीय है। रामायण में ही उपवन का दूसरा सबसे उत्तम उदाहरण अशोक वाटिका के रूप में दिया गया है। अशोक वाटिका में माता सीता और हनुमानजी के संवाद के लिए निर्मित वातावरण के विवेचन के रूप में रामायण के रचियता अशोक वाटिका के पुष्प तथा फलों से आच्छादित वृक्षों का बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।²

महाभारत में भी सांसारिक लोक एवं परलोक दोनों में उद्यानों की परिकल्पना की गई है महाभारत में उद्यानों (उपवन) के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत के वर्णित उद्यानों में **राजा पाण्डू माद्री** की प्रथम भेंट का वृतांत अत्यंत उल्लेखनीय है। राजा पाण्डु की पत्नी कुन्ती के जन्म स्थान कुन्तलपुरी तथा द्रोपदी के पैतृक स्थान पांचाल में विभिन्न प्रकार के उद्यानों के वृतांत महाभारत में मिलते हैं।³

अन्य विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी उद्यानों (उपवनों) के वृतांत मिलते हैं महाकवि कालिदास ने उपवनों का जितना सुन्दर चित्रण किया है उतनी संभवतः अन्य किसी साहित्य में नहीं मिलता है। महाकवि कालिदास **अभिज्ञान शाकुंतल** में शासक दुष्यंत और शकुन्तला की प्रथम भेंट का वर्णन जिस उपवन में करते हैं। वह नायक तथा नायिका से

*शोध छात्र (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

अधिक उपवन की शोभा का वर्णन करते हैं। महाकवि कालीदास कौशल के शासक अज की पत्नी की मृत्यु का विवरण जिस उपवन में करते हैं उसका चित्रण भी अत्यंत सुन्दर ढंग से किया गया है। वैदिक कालीन भारतीय समाज एक आदर्श समाज के रूप में माना जाता है, वेदों में उपवनों की महत्वता को सर्वाधिक रेखांकित किया गया है। **यजुर्वेद** में प्रत्येक वनस्पति एवं वृक्ष का पृथक-पृथक रूप से औषधीय विश्लेषण किया गया है तथा प्रत्येक वृक्ष को नियत स्थान पर लगाने के भी निर्देश दिए गए हैं साथ ही घरों तथा सार्वजनिक स्थलों पर लगाने वाले वृक्षों तथा उद्यानों का पृथक-पृथक विवरण दिया गया है।¹

सैन्धव तथा सिन्धु सभ्यता एक नगरीय सभ्यता की रूप में स्वीकार की गई है। जिसमें नगरीकरण के अनुरूप जीवन यापन करने के मानव संकेत प्राप्त हुए हैं जब मनुष्य नगर की अवधारण से न केवल परिचित था न केवल नगरीय वातावरण में रह रहा था। अतः सिन्धु सभ्यता में उद्योनों का होना स्वभाविक ही था। जहाँ सिन्धु सभ्यता में वनस्पति की अर्चना का उल्लेख मिलता है अतः उपवन आवश्यक रूप से रहे होंगे।²

मौर्य कालीन भारत में अन्य ललित कलाओं की भांति उद्यान कला का भी विकास हुआ। वृक्ष देवी देवताओं के प्रतीक समझे जाते थे। वृक्षारोपण करना एक धार्मिक कार्य माना जाता था। पीपल, कमल, तुलसी आदि वनस्पतिक वृक्ष अति पवित्र माने जाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन यात्री मैगस्थनीज अपने वृत्तांत के मौर्य शासकों के विशाल व रमणीक शाही उद्यान का उल्लेख करता है। यह शाही उद्यान मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र के किले में स्थित था। उद्यान के पौधों व वृक्षों की शासक के नौकर देखभाल करते थे। उद्यान में अनेकों पुष्प विशेष देखभाल के साथ लगाए गए थे।

मौर्य काल में उद्यान में शासक, रानी, शतरंज का खेल खेलते व अन्य विविध प्रकार के मनोरंजन किया करते।

सम्राट अशोक ने अपने शासनकाल में विहारों के निर्माण के दौरान कई उपवनों की निर्माण करवाया था। अशोक कालीन राजपथ, चतुष्पद, सरायें आदि जगह-जगह रमणीक उद्यानों से युक्त रहती थी। सम्राट अशोक के अभिलेखों में कई रमणीक उद्यानों के निर्माण का विवरण मिलता है। मौर्य शासकों ने धर्मशालाओं के निर्माण में सरोवर व उद्यानों का भी निर्माण करवाया। स्कन्दगुप्त, समुद्रगुप्त आदि राजाओं सड़कों के दोनों तरफ प्रजा के आराम हेतु सघन छायादार व फलदार वृक्षों को लगवाया। इन वृक्षों की सुरक्षा के भी व्यापक इन्तजाम किये गए। मौर्य कालीन शाही उद्यानों में वृक्षों के अतिरिक्त सुन्दर हिरणों, खरगोशों, विभिन्न प्रकार के पक्षियों इत्यादि का पालन किया जाता था। उद्यानों में विशाल, मनोहारी मछलियों से युक्त सरोवरों को भी निर्माण किया जाता था।

मौर्य कालीन प्रसिद्ध नीति विशारद आचार्य कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ अर्थशास्त्र में मौर्य शासकों की उद्यान निर्माण योजना व उनकी उद्यान प्रियता पर प्रकाश डालती है एवं सामाजिक जीवन में उद्योनों की आवश्यकता व महत्व को रेखांकित करती है।

शुंग काल में स्तूप, वेदिकाओं, के निर्माण में कल्पवृक्ष, कमल, कल्पलता, विभिन्न प्रकार के पुष्प व लताओं का अंकन, उस काल में उद्यानों की स्थिति का द्योतक है। शासक धनभूति से लेकर श्रेष्ठी व रूपकार आदि भवन निर्माण योजना में उद्यानों का विशेष ध्यान रखते थे। कल्पवृक्ष एवं कमल का फूल पवित्र वनस्पति माना जाते थे। शुंग कालीन प्राप्त यक्ष-यक्षणियों, अप्सरा, कुबेर, बौद्ध जीवन संबंधित मूर्तियों में कल्पवृक्ष व कमल के फूल की उपस्थितियाँ इनके पवित्र वनस्पति माने जाने के स्पष्ट प्रमाण हैं। शुंग कालीन शासकों ने मथुरा व कानपुर के निकट कई उद्यानों का निर्माण करवाया।

ईसवी सन् के आरम्भ से भारत में कुषाण वंशी शासकों का शासन स्थापित हुआ। शक्तिशाली कुषाण सम्राट **कनिष्क** बौद्ध मत का पोषक होने से साथ-साथ ललित कलाओं का भी प्रेमी था। कनिष्क के शासन में काल कई विशाल एवं भव्य बुध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इन प्रतिमाओं के स्थापना स्थल पर उद्यानों का भी निर्माण किया गया। इन उद्यानों में फूलदार वृक्ष, फलदार वृक्ष, औषधीय गुण युक्त वनस्पतियाँ आदि सभी प्रकार के वृक्षों की विशेष देखभाल की जाती थी।

गुप्तकाल भारतीय इतिहास में स्वर्ण काल के नाम से जाना जाता है। इस युग में भारत ने स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य व संगीत के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की। गुप्त युग के इस शान्त व सहिष्णु वातावरण में उद्यानकला का चरम विकास हुआ। गुप्त कालीन महाकवि कालिदास के काव्यों में उद्यानों का बड़ा ही रमणीक चित्रण मिलता है।^१

कालिदास व अन्य समकालीन लेखकों के साहित्य से पता चलता है कि गुप्त काल में सुनियोजित तरीके से विशाल एवं भव्य उपवनों का निर्माण किया जाता था। उद्यानों के निर्माण वनस्पति के चयन व उनकी देखभाल का विशेष ध्यान रखा जाता था। शाही उद्यानों के वृक्षों को तो बिना अनुमति के कोई छू भी नहीं सकता था। उद्यानों में शोभादार व फूलदार, फलदार आदि सभी प्रकार के वृक्ष होते थे। उद्यानों में सरोवर का भी निर्माण किया जाता था। गुप्त शासक नरेश कुमार गुप्त ने नालंदा में एक विशाल बौद्ध विहार की स्थापना करवाई जो कि आगे चलकर एक बड़े विश्वविद्यालय में परिवर्तित हो गया। इस विश्वविद्यालय में कई उद्यान थे जिनका मनोरंजन के अतिरिक्त औषधीय महत्व भी था। गुप्त शासकों द्वारा बनाए गए मंदिरों में उपवन की योजना आवश्यक रूप से शामिल रहती थी। गुप्त वंशी शासकों ने सरायों में बड़े पैमाने पर उद्यानों का निर्माण किया व राज्य में सड़कों के दोनों तरफ छायादार व फलदार वृक्षों को लगवाया।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में हर्षवर्धन एक बड़े साम्राज्य निर्माता के रूप में स्थापित हुआ। जिसने अपने राज्य में स्थापत्य एवं मूर्तिकला को विशेष प्रोत्साहित किया। हर्षकालीन स्थापत्य की यह विशेषता थी कि भवन के चारों ओर उपवनों के लिए स्थान छोड़ा जाता था और उनमें उद्यान विकसित किए जाते थे। हर्षवर्धन के उपरान्त उसके साम्राज्य पर गुर्जर प्रतिहार वंश का शासन रहा। गुर्जर प्रतिहार शासकों के काल की स्थापत्य कला में उद्यानों का पृथक् से उल्लेख नहीं मिलता है।

भारत के दक्षिण राज्यों में चालुक्य, राष्ट्रकूट तथा पल्लव प्रमुख थे। इन राजवंश के शासन काल में स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास हुआ। निःसन्देह इस काल में उद्यान कला का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। पल्लव शासकों की प्रथम राजधानी काँचीपुरम थी उन्होंने मामल्लपुरम जो वर्तमान में महाबलीपुरम के रूप में जाना जाता है को राजधानी बनाया। मामल्लपुरम समुद्रतट के समीप आग्नेय पत्थर की चट्टान को काटकर दस गुहा मण्डपों में बनाया गया था। इन गुहा मण्डपों में उद्यानों की निर्माण किया गया था।⁷

पल्लव शासक **राजसिंह बर्मन** के समय के मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से अद्भुत हैं। मन्दिर के द्वारों के दोनों तरफ सुन्दर उद्यानों का विकास किया गया है। पल्लवों की भांति चोल शासक भी कला के पोषक थे उन्होंने स्थापत्य एवं मूर्तिकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चोल शासकों ने मन्दिरों का निर्माण कराया। तंजौर का विशाल **राजराजेश्वर शिव मन्दिर** चोल कालीन उद्यान कला का अनुपम उदाहरण है। चोल कालीन मुदुरै, चिदंबरम, काँची के मन्दिरों में भी सुविकसित उद्यानों को देखा जा सकता है।

बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में मैसूर में होयसल वंश का आधिपत्य था इन शासकों ने हलेविद् में होयसलेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया। इस मंदिर पर पौराणिक कथाओं को चित्रित किया गया है तथा मन्दिर परिसर में उद्यानों को विकसित रूप में आज भी देखा जा सकता है।

इस प्रकार भारत में अरबों के आगमन से पूर्व ऐतिहासिक काल से ही उद्यान कला का स्वरूप दिखलाई पड़ता है जो मौर्य सम्राट अशोक के काल में सर्वाधिक विकसित था।

जब मुस्लिम भारत में आये तो वे अपनी संस्कृति एवं ललित कलाओं के साथ भारत में उद्यान कला के विचारों को भी लेकर आये। उद्यान कला संदर्भ में मुगल पूर्व मुस्लिम शासकों व उनके संरक्षण में आये उद्यान विदों ने भारतवर्ष की जलवायू एवं भूमि के उपजाऊ पन का पूर्ण उपयोग किया। मुगल पूर्व शासकों ने अपने द्वारा विजित क्षेत्रों में अनेक इमारतों व शाही भवनों का निर्माण करवाया व इन भवनों को सुन्दर उद्यानों द्वारा शोभित किया गया।

इन उद्यानों के निर्माण में चबूतरों, फब्वारों का विशेष ध्यान रखा जाता था। उद्यानों में कृत्रिम नहरों द्वारा झरनों का निर्माण किया जाता था और ये कृत्रिम नहरें सिंचाई हेतु प्रयोग में भी लाई जाती थी। इन उद्यानों से गाँव तथा नगरों दोनों ही जगहों में रहने वाले नागरिकों को लाभ होता था। क्योंकि फलदार वृक्षों वाले उद्यानों से अर्थ प्राप्ति भी होती है। तुगलक वंशीय शासक फिरोजशाह तुगलक ने अपने शासन काल में 1200 उद्यानों का निर्माण करवाया था। जिनसे से कई उद्यान फलदार वाले वृक्षों के थे। फिरोज तुगलक द्वारा निर्मित फलदार उद्यानों में सात प्रकार के अंगूरों की किस्मों को लगाया गया था।⁸

स्थापत्य कला ने भारत में उद्यान कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। एक इमारत चाहे वह किसी रूप में सुन्दर हो वह पूर्ण नहीं समझी जाती यदि उसमें सुगन्धित व शोभाकारी फूलों व वृक्षों का बाग नहीं होता था। पूर्व मुगल शासकों ने इमारतों के

अतिरिक्त अपनी रूचि के आधार पर विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के सुगन्धित, फूलदार व फलदार उद्यानों को लगवाया “दिल्ली के सुल्तानों ने नदियों के किनारे अनेकों शहरों की स्थापना की और इन शहरों में अनेकों उद्यान विकसित किये।”

सल्तनत युग के प्रथम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा स्थापत्य के क्षेत्र में 1206 ई.में विश्वप्रसिद्ध मीनार “**कुतुब मीनार**” का निर्माण प्रारंभ कराया गया। यह इमारत महारौली दिल्ली में स्थित है। बाद में इल्तुतमिश ने अपने शासन काल में इस इमारत को पूर्ण किया, कुतुब मीनार के निर्माण स्थल पर एक सुगन्धित उद्यान का भी निर्माण किया गया। लाल पत्थरों से निर्मित इल्तुतमिश का मकबरा चारों तरफ से उपवन द्वारा शोभित था बलबन का मकबरा जो **किला—ए—राय** पिथौरा के निकट स्थित है। जर्जर अवस्था में होने के कारण उद्यान कला योजना को प्रदर्शित नहीं कर पा रहा है। दास वंश के सुल्तान कैकूबाद ने कालूगढ़ी में एक शानदार उद्यान का निर्माण कराया था।

दिल्ली सल्तनत काल में खिलजी युग स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस काल में वास्तुकला का एक नवीन युग आरम्भ हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने दिल्ली के निकट एक नया शहर **सीरी** बसाया। जिसमें एक सरोवर के किनारे उद्यानों का निर्माण किया गया। वर्तमान समय में इस शहर के कुछ ही अवशेष प्राप्त होते हैं।

दिल्ली सल्तनत काल में तुगलक वंश के शासक ग्यासुद्दीन तुगलक ने भी तुगलकाबाद नामक एक नवीन नगर बसाया व उसे मनोरंजन हेतु कई विशाल उद्यानों से शोभित किया।⁹ फिरोज तुगलक को स्थापत्य व उद्यान कला के क्षेत्र में विशेष रूचि की उसके काल में उद्यान कला पर विशेष महत्व दिया गया। फिरोज तुगलक ने 5 शहरों 200 सरायों व 30 महलों का निर्माण करवाया व इन्हें विभिन्न प्रकार के सुन्दर व सुगन्धित उद्यानों से शोभित किया गया।¹⁰ फिरोज शाह तुगलक ने अपने काल में दिल्ली में 1200 उद्यानों को विकसित किया।¹¹ फिरोज के शासन काल में उद्यान केवल आमोद—प्रमोद का साधन ही नहीं थे वरन उद्यानों का आर्थिक महत्व भी था। फिरोजशाह ने कई फलदार उद्यानों को विकसित किया जिससे राज्य को अर्थ की प्राप्ति भी होती थी।¹² इतिहासकारों के अनुसार फिरोज तुगलक ने अंगूर की 7 किस्मों के उद्यान विकसित करवाये थे।

दिल्ली सल्तनत काल के सैय्यद वंश और लोदी वंश के सुल्तानों को प्रायः आर्थिक आभाव का सामना करना पड़ा, इसलिए उनके शासन काल में स्थापत्य व उद्यान कला की प्रगति अधिक नहीं हुई। दिल्ली सल्तनत के पतन के साथ ही भारतीय स्थापत्य कला तथा उद्यान कला के इतिहास में एक अध्याय का अन्त हो गया।

मुगल शासकों के पूर्व भारत में उद्यान कला का विश्लेषण करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में उद्यान कला परम्परा महाकाव्यकाल से ही विकसित हुई और विभिन्न कालों में इसका स्वरूप तत्कालीन शासकों के अनुरूप परिवर्तित होता रहा।

सन्दर्भ

1. बी.ए. स्मिथ, एन्शियन्ट इण्डिया, लन्दन, 1934, पृ. 107 ।
2. महर्षि बाल्मिक, रामयण, गोरखपुर, 1986 ।
3. महाभारत, 3/71/112 ।
4. यजुर्वेद, 2/27/67 ।
5. बी.ए. स्मिथ, पूर्वोक्त, पृ. 127 ।
6. महाकवि कालीदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, तृतीय सर्ग, श्लोक 24 व 31 ।
7. डॉ. आर.एन. मिश्रा, भारत की स्थापत्य कला का इतिहास, भोपाल, 1984, पृ. 37 ।
8. तारिख—ए—फिरोजशाही ।
9. वही ।
10. वही ।
11. वही ।
12. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, मध्यकालीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, 1974, पृ. 207 ।

'आगरा के मुगल स्थापत्यों में रामबाग तथा एत्माद—उद—दौला मकबरे का महत्व'

मयूरी गुप्ता*

आगरा प्रारम्भ से ही मानवीय क्रियाकलापों के आकर्षण का केन्द्र रहा है आगरा की स्थापना यद्यपि सल्तनतकालीन शासक सिकन्दर लोदी द्वारा की गयी परन्तु मुगल शासकों ने इसे अपनी समस्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक लिप्साओं को शान्त करने के केन्द्र रूप में स्थापित किया। आगरा सन् 1526 में बाबर के आगमन के साथ ही मुगलों के आकर्षण का केन्द्र रहा। बाबर की सौन्दर्य की परख प्रशंसनीय थी उसकी बुद्धि योजनाबद्ध तरीके से बाग लगवाने तथा उसे सजाने सवारने में कुशाग्र थी अपने संस्मरणों में वो उस बाग का वर्णन करता है जो उसने प्राचीन नगरी आगरा में लगवाये।¹

बाबर पहाड़ी क्षेत्र का निवासी था जब वह आगरा आया यहाँ बहुत गर्मी थी अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' में उसने यहाँ की धूल भरी आँधी और लू तथा विभिन्न परेशानियों का उल्लेख किया है।²

उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यहाँ के लोग न बाग लगवाते हैं न ही जल के संरक्षण की कोई कृत्रिम व्यवस्था करते हैं उसने अपने समरकन्द यात्रा के दौरान वहाँ देखे गये बागों का अपने संस्मरण तुजुक —ए— बाबरी में उल्लेख किया है तथा फारसी कवियों फिरदौसी, सादी, हाफिज और खैम्याम की रचनाओं में वर्णित बागों का रोचक वर्णन किया है।³

बाबर ने आगरा में तीन बड़े बाग लगवाये रामबाग, देहराबाग, और जाहराबाग जिसमें से अन्तिम दो उसकी पुत्रियों के नाम पर हैं।⁴ बाबर अपने संस्मरण में लिखता है आगरा आने के पश्चात इस कार्य के लिये मुझे यमुना उचित लगी और वहाँ की भूमि पर एक सम्भावित बाग के लिये स्थल चुना। मैं ने यहाँ एक विशालकाय तालाब बनवाकर बाग की चाहरदीवारी तैयार करा ली।⁵

सम्भवतः रामबाग का मूल स्थल आरामबाग है जो बाग—ए—नूर —अकशा के नाम से भी जाना जाता है। यह बाग कालान्तर में सामाझी नूरजहाँ का उद्यान गृह रहा और यह भी उल्लेख मिलता है 18 वी शताब्दी ने मराठों ने इसका नाम राम बाग रख दिया।⁶

इस बाग का ज्यामीतिया आधार पर विन्यास किया गया है जिसमें चबूतरों सहित निर्मित मार्ग है ऊपर कुछ इमारतों के अवशेष हैं तथा दक्षिण की ओर एक सुन्दर पानी की

*शोध छात्रा जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर मध्य प्रदेश

नाली जो कि एक कृत्रिम नहर है तथा एक कृत्रिम कुम्भ आज भी दर्शनीय है। पानी की अन्य नालियाँ सम्पूर्ण उद्यान के अन्दर अपनी मल स्थिति में जर्जर अवस्था में है एक गोलाकार आकृति में चबूतरा सम्भवत बाबर के अष्टभुजीय कुम्भ के स्थल को प्रतिबिम्बित करता है⁷

रामबाग में प्रयुक्त रंगीन योजनाओं में नीले रंग की आभाओं को प्रमुखता दी गयी है। इसका प्रयोग योजनाबद्ध धरातल एवं फूलों व पत्तियों में किया गया है।⁸ इस बाग की ऐतिहासिकता पर कुछ विद्वानों को संदेह है इसका मूल हिन्दी नाम आरामबाग है जिसका अपभ्रंश कर वर्तमान नाम रामबाग कर दिया गया है। इसका मुस्लिम नाम बाग —ए—नूर—अकशा है। जिसका साहित्यिक अर्थ है 'प्रकाश में विकीर्ण का उद्यान' मुगल बादशाह के हरम में नूर अकशा नाम की एक युवती थी। जिसका व्यक्तित्व जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ के समान था⁹

रामबाग को एक अन्य इतिहासकार, राजा जवाहर जो भतरपुर के थे द्वारा बनवाया गया बताते हैं परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि बाबर की जब मृत्यु हुई तो उसके शव को काबुल स्थित सम्मानित शवगृह ले जाने से पूर्व आगरा स्थित आरामबाग में अल्पकाल के लिये दफनाया गया¹⁰

एत्माद —उद—दौला का मकबरा

मिर्जा ज़ास बेग का मकबरा जो कि एत्माद—उद—दौला के अधिकृत नाम से जाना जाता है। यमुना नदी के वाये किनारे पर स्थित है। यह मकबरा मिर्जा ज़ास बेग की पुत्री मेहरुनिसा जो कि इतिहास में नूरजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुई 1622 एवम् 1628 में अपने पिता की याद में बनवाया था। मिर्जा ज़ास बेग खुरासान के प्रधानमंत्री ख्याजा मुहम्मद शरीक के पुत्र थे और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् भारत आये। मुगल बादशाह अकबर ने उनकी योग्यता को देखते हुये उन्हें शाही दरबार में नौकरी दे दी।¹¹

बेगम नूरजहाँ ने अपनी रुचि के अनुसार स्मारक बनवाये, एक स्मारक लाहौर के निकट शाहदरा में बादशाह का मकबरा और दूसरा आगरा में अपने पिता ज़ास बेग का मकबरा।¹²

चारबाग पद्धति पर आधारित है सम्पूर्ण बाग चार भागों में बंटा है जो कि चारो ओर से दीवारो से घिरा हुआ है। इसका प्रवेश द्वारा पूर्व की तरफ है इसके पश्चिमी भुजा के मध्य में एक बहुसंख्यक कक्षायुक्त इमारत बनी है जिसका आनन्द मण्डल के रूप में प्रयोग होता था। पानी की नालियों में मूलतः जल ऊपर वने तालाब से आता था यह नलियाँ इस बगीचे के चारो तरफ बनी है और भूमिगत जल व्यवस्था के द्वारा यह नलियाँ, तालाब, तक जाती है। फूलों की क्यारियाँ सुन्दर पुष्पों से सजी हुई है।

पर्सी ब्राउन इस संचना को अकबर और शाहजहाँ की मुगलशैली से जोड़ने की कड़ी

मानते हैं।¹³ बाग में मध्य में स्थित मकबरा 149 वर्ग फिट के चबूतरे पर खड़ा है। भूमि सतह से इस चबूतरे की ऊँचाई तीन या चार फुट है यह चबूतरा लाल पत्थर तथा मुख्य इमारत सफेद संगमरमर से बनी है। इसके भूमितल की रूपरेखा वर्गाकार है जिसकी प्रत्येक भुजा 70 फुट है जिसके मध्य में स्मारक स्थित है जिसके प्रत्येक कोने पर मीनारें बनी हैं। इन मीनारों के मध्य गुम्बद की छत वाले मण्डल बनाये गये हैं।¹⁴

इसके मध्य कक्ष के चारों ओर क्रमानुसार एक दूसरे से सम्बन्धित कक्ष बने हैं जिसमें मिर्जा ज़ास बेग के परिवारीजनों की कब्रें बनी हैं। इस सभी में सुन्दर चित्रकारी और चुने से अलंकरण किया गया है कुछ आलेखन पाण्डुलिपियों से लिये गये हैं। जहाँगीर के काल में चित्रकला अपने चरम पर पहुँच गयी थी।¹⁵

पर्सि ब्राउन कहते हैं स्थापत्य शैली के एक छोटे उदाहरण के रूप में यह इमारत बाग, प्रवेशद्वार इसमें निहित कक्ष अपने वर्ग में एक परिपूर्ण स्थापत्य की प्रतीक है। जबकि इसकी सुन्दरता संगमरमर से बने केन्द्रिय कक्ष से प्रकाशित होती हैं इसकी सतह पर जड़ाऊ पत्थरों का अलंकरण शोभनीय है।¹⁶

संगमरमर में पत्थर का जड़ाऊ कार्य भारत वर्ष में मुगलों के आगमन से बहुत पहले प्रचलित था लेकिन इस इमारत में मुगलों ने यह अलंकरण पहली बार किया था। मुगलों ने अपने मूल क्षेत्र फारस की कला जैसे वृक्ष लताएँ, पुष्प, गुलदस्ते, मदिरा के चश्क, एवम् दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का सफलतापूर्वक अंकन किया है। इन सबका सफल परिणाम हमकों शाहजहाँ निर्मित ताजमहल में दृष्टिगत होता है यह भी आश्चर्य है की इस प्रकार की सजावट में कहीं भी पाश्चात्य प्रभाव नहीं है।¹⁷

नदी की तरफ इसकी दीवार पर एक मछली की आकृति सफेद संगमरमर से बनी है। जिसके विषय में एक रोचक कहावत यह है कि वर्षा ऋतु में यमुना का जल जब अपने स्थायी सतह से ऊपर उठकर इस मछली का स्पर्श कर लेता है तब इलाहाबाद जल मग्न हो जाता है। किन्तु 1871 की भीषण वर्षा में यमुना का जल स्तर इस मछली से कई फिट ऊपर चला गया था किन्तु तब भी इलाहाबाद जलमग्न नहीं हो सका।¹⁸

बील महोदय कहते हैं कि इस मकबरे की कब्रगाह के स्थान पर पहले बाग था मकबरे का निर्माण एत्माद—उद—दौला ने अपने जीवन काल में ही किया। आइन—ए—अकबरी के अनुसार उसका मूल नाम मिर्जा ज़ास—बेगउर्द—दीन मोहम्मद था तथा यह बहरान का निवासी था सर्वप्रथम अकबर की सेवा में आया और जिस उपाधि एत्माद—उद—दौला के आधार पर वह इतिहास में प्रसिद्ध हुआ वह उपाधि मुगल बादशाह जहाँगीर ने उसे दी थी और अपनी पुत्री नूरजहाँ का विवाह जहाँगीर से करा दिया जिसके परिणामस्वरूप मिर्जा ज़ास—बेग को 6000 का मनसबदार बनाया गया। तुजुक

—ए—जहाँगीरी के अनुसार यह अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् हृदय गति रूकने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ। जिसके बाद नूरजहाँ ने अपने पिता के लिये मकबरे का निर्माण करवाया।¹⁹

वर्तमान में आगरा शहर में स्थित इन मुगलकालीन स्मारकों की सुंदरता अपने मूल रूप को खोती जा रही है। इन स्मारकों के आसपास धनी आबादी बसती जा रही है जिसके फलस्वरूप इनके आसपास सदैव गंदगी बनी रहती है इसके अतिरिक्त उचित सड़को तथा परिवहन व्यवस्था अच्छी न होने के कारण यहाँ पर्यटकों को आने में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। जिसके कारण पर्यटक कभी कभी केवल ताजमहल देखकर ही आगरा से वापस चले जाते हैं या यहाँ के ठगों, लपकों, पॉकेटमारों से परेशान होकर अच्छी यादों की बजाय बुरी यादें लेकर जाते हैं। जिसके कारण न केवल आगरा शहर वरन् देश की भी छवि खराब होती है। इसलिये वर्तमान में यह आवश्यक है कि पर्यटन मंत्रालय द्वारा सभी दृष्टियों से इनके विकास पर ध्यान दिया जाये जिससे इनके माध्यम से पर्यटन क्षेत्र और विकसित हो सकें।²⁰

संदर्भ ग्रंथ

1. आर्किलोजिकल रिमेन्स मान्यूमेन्ट म्यूजियम भाग -11, आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया पृ.स. 298।
2. रामनाथ मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास पृ. स. 53
3. रामनाथ मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास पृ.स. 54।
4. सिलविया क्रोब्रे, एल शील डेविड, द गार्डन आफ मुगल इण्डिया पृ. स. 28।
5. जॉन लेंडन एण्ड विलियम ईसकाईन मेनायर्स ऑफ जहीर उद्-दीन बाबर, लन्दन 1826 —1926 भाग —11 पृष्ठ संख्या 257,258।
6. ई.वी. हैवल, हैण्ड बुक टू आगरा एण्ड दी ताज पृ. स. 94।
7. सिलबिया क्रोब्रे एण्ड शील डेविड, द गार्डन ऑफ मुगल इण्डिया पृ. संख्या 65।
8. सिलबिया क्रोब्रे एण्ड शील डेविड, द गार्डन ऑफ मुगल इण्डिया पृ. संख्या 66।
9. मेजर जनरल कनिंघम आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ. सं. 99।
10. राजाराम तामीरान, आगरा पृ.सं.92।
11. डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, फोटो थर्ड सेक्शन सोवेनियम पृ.स. 6।
12. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर इस्लामिक पीरियड पृ.स. 100
13. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर इस्लामिक पीरियड पृ.स. 101
14. रामनाथ मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवम् उनका विकास, अध्याय 11, पृष्ठ संख्या 67
15. रामनाथ मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवम् उनका विकास, अध्याय 11, पृष्ठ संख्या 68

16. पर्सी ब्राउन इण्डियन आर्किटेक्चर इस्लामिक पीरियड पृ.सं. 101
17. ई.वी. हैवेलै हैण्ड बुक टू आगरा एण्ड ताज पु. सं. 88,89
18. कनिघम, आर्किटोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट फार द ईयर 1871—1872 पृ. सं. 141 ।
19. एच. बिलोचमैन, आइन —ए—अकबरी और ऊबुल फजल पृ.सं. 5 ।
20. सर्वेक्षण पर आधारित ।

ग्वालियर कला क्षेत्र के कलाकार—प्रभात नियोगी

डॉ वासंती (बक्षी) जोशी*

श्री प्रभात नियोगी का जन्म 22 अप्रैल 1908 ई. में बंगाल के दीनाजपुर नामक गांव के संपन्न परिवार में हुआ था। आपकी रुचि पढ़ाई में अधिक नहीं थी। बड़ी कठिनाइयों से आपने मैट्रिक की शिक्षा प्राप्त की। पढ़ाई लिखाई में मन न लगने के कारण चित्रकला के प्रति इनकी विशेष रुचि जागृत हो गयी परंतु घर के लोग इस बात से अप्रसन्न थे। इसलिए चुपके से वे अपनी कला की रुचि का संवर्धन करने लगे एवं कलकत्ता की इण्डियन ऑफ ओरिएन्टल आर्ट में प्रवेश लेने जा पहुँचे। 1930 ई. से 1934 में आप कला का शिक्षण लेकर आगे के व्यवसाय हेतु तलाश में थे। आपने सुधीर खास्तगीर के साथ बंगाल छोड़ दिया एवं एक वर्ष तक भटकते रहें।^१

ग्वालियर गढ़ पर जागीदारों के लड़कों के लिए भूतपूर्व ग्वालियर राज्य में सिंधिया स्कूल की स्थापना की गयी थी। आगे उसे पब्लिक स्कूल का रूप दे दिया गया। इसके भूतपूर्व आचार्य श्री एफ.जी. पियर्स कला प्रेमी थे उनके कारण कुछ उच्च कोटि के चित्रकार ग्वालियर आए और वह परम्परा अब तक चल रही है। इसमें श्री प्रभात नियोगी तथा श्री उमेश कुमार का नाम विशेष उल्लेखनीय है।^२ 1936 में आप सिंधिया आर्ट स्कूल फोर्ट ग्वालियर के कला शिक्षक बने। जिस निर्बद्ध वातावरण में नियोगी ने शिक्षा ली उसी फोर्ट स्कूल में अध्यापन कराते हुए उन्होंने उसी परम्परा को निभाया। अक्सर वह चित्र बनाते एवं विद्यार्थी उन्हें देखते। नियोगी चित्रकला एवं मूर्तिकला में रूढ़िवादी के समान थे। तकनीकी दृष्टि से टेम्परा तथा जलरंग में इनका प्रयास उल्लेखनीय है। इनके चित्रों में रंगों की शीतलता और विषयों में बंगाल का ग्राम्य जीवन दिखाई देता है। जिसमें मुख्य है झोंपड़ी, वन, सड़क एवं वहां का जनजीवन। प्रभात नियोगी पर कुछ सीमा तक आचार्य नंदलाल बसु तथा अधिकांश में सुधीर खास्तगीर का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित है। श्री नियोगी का ग्राम शीर्षक चित्र बंगाल के ग्रामों का सुंदर अंकन है। अलंकरण के लिए बनाये गये उनके छोटे रेखाचित्र अत्यंत सुंदर हैं।^३

इनके चित्रों की प्रदर्शनियां देश—विदेश में भी आयोजित की गईं। 1939 में आपने अमेरिका यात्रा के दौरान भित्ति चित्रण का कार्य किया। फ्रेस्को के चित्र के आप महान पुजारी थे। आपका फ्रेस्को चित्र आज भी डॉ.एन.एन.लाहा के मकान की सीढ़ियों की भित्ति पर बना हुआ है आपके डॉ.एन.एन.लाहा के पिताजी से पारिवारिक संबंध थे। आपके चित्रों का संग्रह ग्वालियर की कला वीथिका, राजकमल, फोर्ट स्कूल, डॉ.एन.एन.लाहा, प्रो.एस.के. शिंदे आदि जगह संग्रहित हैं।

*विभागाध्यक्षा चित्रकला विभाग, विजयाराजे शा. कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय मुरार ग्वालियर म.प्र

अंधा गायक और मीराबाई, शीर्षक प्रस्तर मूर्तियां क्रमशः आकाशवाणी केन्द्र भोपाल और दिल्ली में रखी हैं।^१ आपकी अत्यंत सुंदर मूर्तियां सरस्वती, किसान पति-पत्नी, सिंधिया स्कूल फोर्ट के बगीचे में संग्रहित हैं। आपके चित्रों की, पद्धति एवं आकृतियों में बंगाल का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। आप स्वयं बंगाली होने के कारण स्वभावतः यह प्रभाव चित्रों में दिखाई देता है।

प्रभात नियोगी ने अनेक चित्र बनाए, पत्थर में उन्होंने कुछ मूर्ति भी काटीं। चित्रों से अधिक नियोगी को अपनी मूर्तियाँ प्यारी हैं। इन मूर्तियों को सरल ज्यामितीय प्लेंस में परिभाषित करने का यत्न बहुत साफ है।^२

चित्रों में घनवाद की ओर रुझान परिलक्षित है। उनके अनेक चित्र विषय के सरल ज्यामितीय आकारों और कम से कम रंगों के प्रस्तुतीकरण हैं।^३ इन चित्रों को देख सहज ही जार्जकिट की याद आ जाती है।

उनके पहले के चित्रों में रंगों का रूखापन है तो बाद के चित्रों में वन प्रांतों का प्रस्तुतीकरण है। जिनमें वानस्पतिक रंगों का सामंजस्य है। इन चित्रों में पहाड़, पेड़, आदि विशिष्ट सृजनात्मक आकारों से संयोजित है। नियोगी के आरंभिक काल के चित्र क्षितिन्द्र नाथ मुजुमदार के प्रभाव में बनाये गये चित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। नियोगी को प्रमुख रूप से क्षितिन्द्र नाथ का ही शिष्यत्व मिला था। ये वाश तकनीक में हैं।

नियोगी के चित्रों में उत्तेजना नहीं, ठंडक है। बंगाल का ग्रामीण अंचल जिसमें वन, झोंपड़ी, सड़क और लोग हैं। गायक, वादक, स्त्री रूप, दुःखः दर्द वियोग ये नियोगी की कृतियों के विषय हैं। चाक्षुक रूपाकार के ऊपर विषय आरोपण आकृतियों में भारतीय आदर्श की अतिरंजना और आकृति घड़न की न्यूनता बंगाल आंदोलन से जुड़े कलाकारों की तरह नियोगी में है।^४ सिंधिया स्कूल फोर्ट से सेवा निवृत्त होकर नियोगी उटकमंड एवं मंसूरी में भी कार्यरत रहे। उसके बाद वे लकवाग्रस्त हुए और तब से अपने ग्वालियर निवास में रह रहे थे। रवीन्द्र संगीत के शौकीन नियोगी गाने में खास दिलचस्पी रखते थे। बंगाली भाषा में उन्होंने अपना आत्म चरित्र भी लिखा था।^५

उनकी पत्नी एवं उनका एक बेटा था, जो मानसिक असंतुलन का शिकार था। उनकी पत्नी के देहावसान के बाद उनकी कलाकृतियाँ किसके पास हैं इसका पता मध्यप्रदेश एवं ग्वालियर में किसी को नहीं मालूम है।

1. प्रभात नियोगी के प्रदर्शनी के केटलॉग के आधार पर
2. राजाराम प्रभात नियोगी और उनकी छवियाँ आकार अंक -21977 पृष्ठ - 15
3. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्य भारत का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, पृ.401
4. आकार अंक 2 1977 पेज न. 15 म.प्र. कला परिषद द्वारा ग्वालियर में आयोजित प्रदर्शनी की कला समीक्षक श्री राजाराम द्वारा रपट के आधार पर

- 5 आकार अंक 2 1977 पेज न. 16 म.प्र. कला परिषद द्वारा ग्वालियर में आयोजित प्रदर्शिनी की कला समीक्षक श्री राजाराम द्वारा रपट के आधार पर
- 6 आकार अंक 2 1977 पेज न. 16 म.प्र. कला परिषद द्वारा ग्वालियर में आयोजित प्रदर्शिनी की कला समीक्षक श्री राजाराम द्वारा रपट के आधार पर
- 7 आकार अंक 2 1977 पेज न. 16 म.प्र. कला परिषद द्वारा ग्वालियर में आयोजित प्रदर्शिनी की कला समीक्षक श्री राजाराम द्वारा रपट के आधार पर
- 8 आकार अंक 2 1977 पेज न. 16 म.प्र. कला परिषद द्वारा ग्वालियर में आयोजित प्रदर्शिनी की कला समीक्षक श्री राजाराम द्वारा रपट के आधार पर
- 9 डॉ.एन.एम. लाहा, 22 जनवरी, 2008

INSTRUCTIONS TO CONTRIBUTORS AND PUBLISHERS OF BOOKS

Two types of contributions are considered for publication:

FULLLENGTHARTICLES

- a. Manuscripts (in single) should be typed in pagemaker/word format in double-space, with wide margins, on one side only of good bond paper.
Hindi Articles should be typed in Kruti Font. Hindi copy & Soft copy of the Articles are essential.
 - b. Reference must be typed in the following order. Initials and surname followed by name of journal, newspaper or book, name of publishers and place of publication, vol. no., year or publication and page no. for eg.
saxena, s.b.l. saran sudha; (kala siddhant or parampara), 1990, prakash book depot. bareilly (u.p.) p-18.
 - C. Illustrations, Map and diagrams should be drawn with Jet Blank ink on tracing paper fo good quality, white art paper or card.
- * Editorial Board & Subject experts reserve the right to condense or make necessary changes in the research papers.
 - * Responsibility regarding authenticity of the contents rests upon the authors and not upon the publisher.
 - * The last date of submission of next issue is 30th April 2016.

BOOK REVIEWS

- * Two copies of each book submitted for review in NRJHSS must be sent to the Editor-in-chief, one to be kept in the officer of the journal and the other, to be retained by the reviewer.
- * Contributors can refer to 'MLA Handbook' Research Guide - 7th Edition to seek guidance in framing their paper.

Editor-in-Chief

EXECUTIVE MEMBERS/SUBJECT EXPERTS

Dr. Rakesh Verma, D.A.V. College, Dehradun
Mr. Bhuvendra Tyagi, Times Group, Mumbai
Dr. Ajay Saxena, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Rakesh Kumar Singh, Kurukshetra University, Kurukshetra
Dr. Alok Bhawsar, Govt. Hamidiya Arts & Commerce College, Bhopal
Mrs. Neha Saxena, Dehradun
Dr. Rakhi Upadhyay, D.A.V. College, Dehradun
Mrs. Kanchan Mainwal, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Sumit Chandra, Govt. College Mant (Mathura)
Dr. A.C. Tripathi, Bareilly College, Bareilly
Dr. Rupali Behal, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Mahesh Chand Pandey Govt. Degree College, Ranikhet
Dr. H.S. Randhawa, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Surendra Singh, Govt. College Mant (Mathura)
Dr. Nidhi Kashyap, P.P.N. College, Kanpur
Dr. D.K. Shahi, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Peeyush Misra, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Ashok Mandola, Govt. College, Devprayag
Dr. P.K. Shrma, D.A.V. College, Dehradun
Mr. Ranjan Kumar, New Delhi
Dr. Arun Kumar, Govt. Collage Mant, Mathura
Dr. Neeraj Gupta, Govt. Girls Degree College, Jhansi
Dr. Puneeta Srivastava, Govt. P.G. College, Bundi
Mrs. Krishna I. Patel, Ambaba Commerce College, Surat
Dr. Reetika Garg, Rajasthan University, Jaipur
Dr. Anupama Saxena, D.A.V. College, Dehradun
Dr. Onima Sharma, D.A.V. College, Dehradun
Mr. Devendra Rohila, Ministry of Textile (WSC) Mumbai
Dr. Amit Kumar Sharma, D.A.V. College, Dehradun



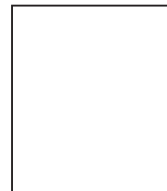
NATIONAL RESEARCH JOURNAL OF HUMANITIES AND SOCIAL SCIENCES

(Half yearly Research Journal)

The Journal is published in both Print and Online versions.

APPLICATION FOR MEMBERSHIP/RENEWAL

Please give all the necessary details and specific answers to the
Questions listed below. Any questions if not applicable for the Candidate
Should be listed and not left out.



Full Name in (Black Letters) _____

Father's Name _____

Address _____

Qualification _____

Phone _____ Mobile _____

E-Mail _____

Date of Birth _____

Subject _____

Occupation _____

(If research scholar, mention guides name and place of research)

Note : - All correspondence will be made with

Dr. Hari Om Shankar

H.No. 5, Cross-9, Tapovan Enclave,

Sahastradhara Road, Dehradun-248008 (U.K)

Mobile 9012385589 Phone: 01352787711

E-Mail hoshankar@yahoo.com

Department of Drawing & Painting,

D.A.V. (P.G.) College Dehradun-248001 (U.K.)

1. Please send your 1 PP Size (4 x 4.5 cm) photo for the membership card.

2. Outstation Cheque will not be accepted

I declare that all statements made in this application are correct.

Date :

Signature of the Applicant

